मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 93 ● वर्ष 10, अंक 12 ● फ़रवरी 2021 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

सरकारी उपक्रम कौड़ियों के मोल बेचने की मुहिम में जुटी सरकार 11

क्या सारे किसानों के हित और माँगें एक हैं? सीमान्त, छोटे और निम्न-मँझोले किसानों की क्या माँगें हैं? 8

चिंगारी से भड़केंगी ज्वालाएँ... 14

करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों पर क़हर बरपा करने वाले चार लेबर कोड लागू करने की हड़बड़ी में मोदी सरकार

इन काले क़ानूनों के विरुद्ध मज़दूरों को ख़ुद ही लम्बी लड़ाई की तैयारी करनी होगी!

देश के करोड़ों मेहनतकशों की बदहाल ज़िन्दगी को और भी तबाह करने वाले चार ख़तरनाक क़ानून मोदी सरकार संसद से पारित करवा चुकी है और अब आनन-फ़ानन में उन्हें लागू करने की तैयारी में है। पूँजीपति मनमाने तरीक़े से मज़दूरों की हड्डी-हड्डी निचोड़ सकें और मज़दूर अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संगठित भी न हो पायें, इसका पक्का इन्तज़ाम करने वाले इन क़ानूनों को लागू करने के लिए पूँजीपति इतने उतावले हैं कि मोदी सरकार समय से कई महीने पहले ही इन्हें लागू करने जा रही है।

देशभर की ट्रेड यूनियनों और मज़दूर संगठनों की आपत्तियों को दरकिनार करते हुए केन्द्र सरकार ने कह दिया है कि वह श्रम "सुधारों" को तेज़ करने जा रही है और चारों लेबर कोड को समय से पहले ही लागू करने की तैयारी कर रही है। इसके लिए नियम जनवरी के अन्त तक ही तैयार हो जाने की घोषणा की गयी थी, हालाँकि अभी तक सरकार ने आगे की कोई जानकारी नहीं दी है। पिछले वर्ष अक्टूबर में श्रम मंत्रालय ने कहा था कि अप्रैल 2021 तक सभी लेबर कोड लागू किये जायेंगे। लेकिन जनवरी में

सम्पादक की ओर से

श्रम सचिव अपूर्व चन्द्रा ने कहा कि उनका मंत्रालय 31 जनवरी तक चारों कोड के नियम तैयार कर लेगा। उसके बाद कभी भी इन्हें लागू किया जा सकता है।

कोई पूछ सकता है कि औद्योगिक मज़दूरों की विशाल आबादी अपने लिए विनाशकारी इन क़ानूनों को लेकर उसी तरह सड़कों पर क्यों नहीं उतर रही है जिस तरह धनी किसान और कुलकों के संगठन इस समय आन्दोलन पर हैं।

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि जिन्हें मज़दूरों को उनके हक़ों के लिए जागरूक और संगठित करना था, वे धनी किसानों-फ़ार्मरों के पुछल्ले बने हुए हैं। मज़दूरों के स्वतंत्र पक्ष को संगठित करने का कार्यभार भुलाकर मज़दूरों के वर्ग हितों के ख़िलाफ़ जाने वाली माँगों पर खड़े आन्दोलन में अपनी-अपनी हैसियत के हिसाब से बैंड और पिपिहरी बजा रहे हैं। बरसों पहले लाल झण्डे का सौदा कर चुकी संसदीय वाम की पार्टियाँ और उनसे जुड़ी यूनियनें तो पिछले तीन दशक के दौरान उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के बुलडोज़र के आगे मज़दूरों को फेंक देने के गुनाह की बराबर की भागीदार रही हैं। विरोध के नाम पर कुछ रस्मी कार्रवाइयाँ करते हुए और संसद के अन्दर-बाहर गत्ते की तलवारें भाँजते हुए उन्होंने बस मज़दूरों के ग़ुस्से को निकलने के लिए सेफ़्टी वॉल्व का काम किया है और कुछ सुधारों के पैबन्दों के ज़रिये इस व्यवस्था के शरीर पर लगे ख़ून के धब्बों को ढँकने-

(पेज 5 पर जारी)

आँकड़ों में हेरफेर करके पूँजीपरस्त नीतियों पर जनपक्षधरता का मुलम्मा चढ़ाने का हास्यास्पद प्रयास

– आनन्द सिंह

गत एक फ़रवरी को केन्द्रीय वित्तमंत्री निर्मला सीतारमन द्वारा संसद में वित्तीय वर्ष 2021-22 का बजट प्रस्तुत करने के बाद शेयर बाज़ार में रिकॉर्डतोड़ उछाल देखने में आया। वजह साफ़ थी! यह बजट पूँजीपतियों के लिए मुँहमाँगे तोहफ़े से कम नहीं था।

टीवी चैनलों पर पूँजीपतियों के भाड़े पर काम करने वाले भाँति-भाँति के विशेषज्ञों ने इस बजट की तारीफ़ों के पुल बाँधने में कोई कसर नहीं छोड़ी। किसी ने बजट को ऐतिहासिक बताया तो किसी ने इसे अर्थव्यवस्था के लिए संजीवनी की संज्ञा दी। लेकिन सच्चाई तो यह थी कि यह बजट आर्थिक संकट के दौर में मुनाफ़े की गिरती दर के ख़तरे से बिलबिलाये पूँजीपति वर्ग के लिए संजीवनी के समान था। हालाँकि वित्तमंत्री ने पूँजीपतियों को दी गयी इस सौग़ात पर जनपक्षधरता का लेबल चस्पा करने की हास्यास्पद कोशिश भी की जिसे बजट की प्रक्रिया की बुनियादी समझदारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति आसानी से पहचान सकता है।

कोरोना महामारी जैसे संकट के दौर में कोई भी जनपक्षधर सरकार पूँजीपतियों और रईसज़ादों पर करों को बढ़ाकर आम लोगों की ज़िन्दगी की मुश्किलें आसान करने वाले आवण्टन करती। परन्तु एक

केन्द्रीय बजट 2021-22

फ़ासिस्ट सरकार से यह अपेक्षा करना बेमानी होगा। जैसाकि इस संकट की शुरुआत से ही देखने में आ रहा है, मोदी सरकार इस आपदा में भी अपने आक़ा पूँजीपतियों के मुनाफ़े को बढ़ाने के अवसर खोजने से बाज़ नहीं आती। इस बजट में भी कॉरपोरेट कर तथा अमीरों के आयकर की दर में कोई बढ़ोतरी नहीं की गयी और उल्टे अप्रत्यक्ष करों में बढ़ोतरी करके संकट के दौर में जूझ रही आम जनता पर करों का बोझ बढ़ा दिया। वित्त मंत्री ने अपने पूँजीवादी आक़ाओं को भरोसा जताते हुए निजीकरण की अपनी योजना का खाक़ा भी प्रस्तुत किया। साथ ही आम जनता को मिल रही चन्द मामूली सहूलियतों पर ख़र्च में कटौती भी की गयी। बजट का जनविरोधी और पूँजीपरस्त चरित्र छिपाने के लिए वित्तमंत्री ने स्वास्थ्य बजट में 137 प्रतिशत की वृद्धि दिखायी। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार यह आँकड़ों की बाज़ीगरी की हास्यास्पद मिसाल है।

बुनियादी ढाँचे के विकास के नाम पर निजीकरण को बढ़ावा

वित्तमंत्री ने अपने बजट भाषण में अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए बुनियादी ढाँचे यानी सड़क, रेलवे, बन्दरगाह, हवाई अड्डे आदि को मज़बूत करने की ज़रूरत पर बहुत ज़ोर दिया। इसके लिए सरकारी मदद और निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने का पूरा भरोसा दिलाया गया। इस मक़सद के लिए बजट में क़रीब साढ़े पाँच लाख करोड़ रुपये ख़र्च करने का प्रावधान किया गया है। लेकिन पते की बात यह है कि यह सरकारी मदद सार्वजनिक

(पेज 12 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

आपदा कैसी भी हो, उसकी मार सबसे ज़्यादा मज़दूर वर्ग पर ही पड़ती है

तालकटोरा इण्डस्ट्रियल एरिया में स्थित रेलवे के पुर्ज़े बनाने वाली फ़ैक्ट्री 'प्राग' में काम करने वाले सौरभ ने 'मज़दूर बिगुल' के वितरण अभियान के दौरान हमें बताया कि उन्हें लॉकडाउन के बाद फिर से खुली फ़ैक्ट्री में दोबारा बुला तो लिया गया लेकिन नये जूते और पोशाक नहीं दी गयी। और अब वे लोहा ढोने का काम करने के जोखिमों को उठाकर फटे जूतों के साथ ही अपना काम जैसे-तैसे चला रहे हैं।

साथ ही कम्पनी ने एक नया नियम यह लगाया कि किसी भी मज़दूर की उपस्थिति बिना स्मार्टफ़ोन के दर्ज नहीं हो सकेगी। और इसलिए उन्होंने क़िस्तों पर एक नया मोबाइल फ़ोन ख़रीदा। बच्चे की ऑनलाइन क्लास लगना शुरू हो जाने के कारण उन्हें दूसरा स्मार्टफ़ोन भी लेना पड़ा क्योंकि जब बच्चे की क्लास शुरू होती थी तब वे फ़ैक्ट्री में होते थे।

इतने सारे ख़र्चों को झेलने के लिए कमर कस चुके सौरभ अब केवल इस बात का शुक्र मना रहे हैं कि कम्पनी ने उन्हें निकाला नहीं। जबकि उनकी कम्पनी कोरोना के कारण उद्योग-धन्धों में आयी मन्दी का हवाला देकर उनका शोषण पहले से भी ज़्यादा करके अभी भी मुनाफ़ा ही कूट रही है।

मज़दूरों में राजनीतिक चेतना की कमी की वजह से कई बार ऐसा होता है कि वे कठिन परिस्थितियों में काम मिल जाने पर पूँजीपति वर्ग के प्रति एहसानमन्द हो जाते हैं। और यह भ्रम उन्हें एकजुटता बनाने से रोकता है। सौरभ की कुछ बातों को सुनकर कुछ यही बात मेरे दिमाग़ में आयी। अपनी एहसानमन्दी जताते हुए उन्होंने यह बताया कि उन्हें लॉकडाउन का भी कुछ पैसा मिल गया। जब हमने थोड़ी और बातचीत की तो उन्होंने यह भी बताया कि कई मज़दूर जिन्होंने पहले यूनियन वग़ैरह की थोड़ी बहुत भी कोशिश की थी उन पर इस मौक़े पर हर बार की तरह ही गाज गिरी है। उन्हें निकाल बाहर कर दिया गया है।

संगठित क्षेत्र से इतर असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों से भी हमारी बातचीत होती रहती है। खदरा के इलाक़े में रहने वाले अनेकों बैटरी रिक्शा चालक लॉकडाउन के समय से ही बद से बदतर ज़िन्दगी जीने को मज़बूर हैं। एक भाईसाहब हैं जिनकी पत्नी दिल की मरीज़ हैं और वे रोज़ कमाने और फिर रिक्शामालिक को किराया देने के बाद लगभग पचास-साठ रुपये ही घर ला पाते हैं। वे अपनी पत्नी का इलाज तो दूर उन्हें ठीक से खिला भी नहीं पाते। अभी तक उनका हाल दुरुस्त नहीं हो सका।

यही हाल उस इलाक़े के फ़ैन्सी चप्पल बनाने वाले कारीगरों का भी है। उनकी जूतियों के थोक ख़रीदारों ने अब मनमाने तरीक़े से कम क़ीमतें देकर उनसे चप्पलें-जूतियाँ ख़रीदना शुरू कर दिया है। पहले से ही पढ़ने-लिखने के साधनों का ख़र्च उठाने में असमर्थ इन नौजवानों के लिए अब रोज़ी-रोटी कमाना भी दुश्वार हो गया है।

सरकार धनपतियों को राहत देने के लिए तो तरह-तरह के पैकेज दे रही है, लेकिन उसके पास ग़रीबों-मेहनतकशों के लिए थोथी जुमलेबाज़ी के सिवा और कुछ नहीं है।

नये साल में मज़दूरों के लिए इस बार अगर कुछ नया है तो वह है पहले से भी अधिक शोषण और ग़ुलामी।

– अनुपम वर्मा, लखनऊ

घायल मज़दूर

जब सड़कों की ओर चलो रे भाईया
तब बदलेगा दूनिया का रवैया
रोक दो पूँजीपतियों का पहिया
और हर तरफ़ गुंजा दो दुनिया में ये नारा
इन्क़लाब ज़िन्दाबाद।
अरे तूने ख़ूब चलाया रे हथौड़ा
मेहनत करके तन से ख़ून निचोड़ा
दिन रात काम पर अड़े रहे तुम
भूखे-प्यासे से ही पड़े रहे तुम
आज होश मे आओ रे मज़दूरों
और लगाओ एक ही नारा
इन्क़लाब ज़िन्दाबाद
नदियों में इतना पानी बहे ना
जितना है तूने बहाया पसीना
घायल परिन्दे की तरह ज़िन्दगी है तेरी
जानवरों की तरह है मरना-जीना
अगर आज़ाद पक्षी की तरह उड़ना है
तो लगाओ एक ही नारा
इन्क़लाब ज़िन्दाबाद
अब सड़कों पर आना ही पड़ेगा
इन्क़लाब का नारा लगाना ही पड़ेगा।
तो बोल मजूरे इन्क़लाब ज़िन्दाबाद।

जब हम बोलेंगे

जब हम बोलेगे
सुनने वालों के कान बन्द हो जायेंगे
क्योंकि हमारी आवाज़
उन पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ है
जो हम लोगों को आपने पैसों से ख़रीदते है
हम बोलेगें इन ठेकेदारों के ख़िलाफ़
जो मज़दूरों के हक़ के पैसे ख़ुद हज़म कर जाते हैं
हम बोलेंगे उन सरकारों के ख़िलाफ़
जो जनता को जात-धर्म के नाम पर लड़वाते हैं
हम बोलेंगे मानवता तार-तार करने वालों के ख़िलाफ़
जो हर मानवीय चीज़ों को सिर्फ़
नष्ट करने के लिए बैठे हैं
हम बोलेंगे उन नौजवानों के साथ
जो इन्क़लाब का नारा लगाते है।

– जैकी, गाँव धमतान साहिब, नरवाना, हरियाणा

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" – **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 8860792320
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

पूँजीवादी व्यवस्था लील रही मज़दूरों की ज़िन्दगियाँ

– रूपा

पिछली 19 जनवरी को गुजरात के सूरत शहर में किम-माण्डवी रोड पर फुटपाथ पर सो रहे 18 मज़दूरों पर ट्रक चढ़ गया जिससे 15 मज़दूरों की मौत हो गयी। बाक़ी मज़दूर भी गम्भीर रूप से घायल हुए। ये सभी मज़दूर राजस्थान के थे, जो अपने और अपने परिवार का पेट भरने के लिए सूरत गये थे। दिन-भर की हाड़तोड़ मेहनत के बाद वे फुटपाथ पर ही सोते थे। उन्हें क्या पता था कि जिस देश में लाखों तैयार फ़्लैट ख़ाली पड़े हुए हैं, वहाँ उन जैसे मज़दूरों के लिए फुटपाथ पर भी जगह नहीं है।

मज़दूरों के साथ हुई यह घटना कोई पहली नहीं है और न ही आख़िरी! हर वर्ष सैकड़ों बेघर ग़रीब फुटपाथ पर सोते हुए गाड़ियों से कुचल कर मारे जाते हैं। यह पूँजीवादी व्यवस्था आये दिन अनेकों तरीक़े से मज़दूरों की ज़िन्दगियाँ लील लेती है। इस देश में करोड़ों लोगों के रहने लायक़ कोठियाँ, बंगले और फ़्लैट ख़ाली पड़े रहते हैं, मगर 18 करोड़ लोग सड़कों के किनारे सोते हैं और 18 करोड़ से भी ज़्यादा लोग गन्दी झुग्गियों में रहने के लिए मजबूर हैं।

दूसरी घटना कर्नाटक की राजधानी बेंगलूर के पास शिवमोगा की है जहाँ विस्फोटक से भरे ट्रक में धमाका होने से दस मज़दूरों की मौत हो गयी। ये सभी मज़दूर बिहार के थे। ये भी अपनी रोज़ी के लिए बेंगलुरु गये थे। भारत में कितने लोगों को इस घटना के बारे में पता चला होगा। गोदी मीडिया को मसालेदार ख़बरों से ही फुर्सत नहीं, तो क्यों मामूली इन्सानों की ख़बरें दिखाये। दूसरी ओर अगर देश में किसी सेलिब्रिटी को दिन में तीन बार छींक आ जाये तो भी पूरे देश में हंगामा मच जाता है!

दोनों दुर्घटनाओं में मरने वाले लोग वे प्रवासी मज़दूर हैं जो दो वक़्त के खाने के लिए रोज़गार की तलाश में सैकड़ों मील दूर दूसरे प्रान्तों में भटकने को मजबूर होते हैं। यही वे प्रवासी मज़दूर हैं जो मोदी सरकार के पागलपन भरे लॉकडाउन के दौरान सैकड़ों मील पैदल चलकर घर गये, 600 से ज़्यादा मज़दूर रास्ते में ही जान गँवा बैठे। मज़दूरों के साथ ऐसी घटना न पहली है न आख़िरी। हर साल न जाने कितने बेघर ग़रीब फुटपाथ पर सोते हुए अमीरों की कारों के नीचे कुचले जाते हैं।

केवल सरकारी आँकड़ों के अनुसार हर साल 48 हज़ार श्रमिकों की मौत काम और जीवन की ख़राब परिस्थितियों के कारण हो जाती है। ये मौतें कोई मामूली दुर्घटना नहीं बल्कि इस बेशर्म सिस्टम द्वारा किया गया नरसंहार है। आये दिन मज़दूर फ़ैक्ट्रियों में दुर्घटनाओं से मरते रहते हैं, कहीं आग लगने से, कहीं गैस लीक होने से तो कहीं पटाखे व विस्फोटक बनाने वाली कम्पनी में धमाकों से, लेकिन इससे ना तो किसी चैनल को टीआरपी मिल सकती है और ना ही ये ख़बर बाहर लाने से फ़ैक्ट्री मालिक को कुछ फ़ायदा हो सकता है। उल्टे अक्सर ऐसी ख़बरों को दबाने की पूरी कोशिश की जाती है, ताकि कहीं इस व्यवस्था की नंगी सच्चाई न सामने आ जाये। ज़्यादातर मामले तो पुलिस प्रशासन को खिला-पिलाकर रफ़ा-दफ़ा कर दिये जाते हैं। सैकड़ों मज़दूर ऐसे भी होते हैं जिनकी मौत के बारे में उनके घरवालों तक ख़बर ही नहीं पहुँचती। मुआवज़ा तो बहुत दूर की बात है।

जिस गुजरात मॉडल का शोर मचाकर नरेन्द्र मोदी ने सरकार बना ली, उसका एक नमूना सूरत की यह घटना भी है। यह कैसा विकास है, जहाँ मेहनत-मज़दूरी करके अपना तथा अपने परिवार का ख़र्च चलाने वाले मज़दूरों को रात फुटपाथ पर गुज़ारनी पड़ती है। ऐसी जगहों पर 12-12 घण्टे काम करने के लिए मजबूर होना पड़ता है, जहाँ मज़दूरों की सुरक्षा का कोई इन्तज़ाम नहीं होता। आये दिन किसी का हाथ कट जाता है, तो कोई जलकर मर जाता है। लेकिन सरकार ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए और दोषियों को सज़ा देने के लिए कोई क़ानून नहीं बनाती। उल्टे मोदी सरकार ने तमाम श्रम क़ानूनों को ख़त्म कर दिया ताकि मुनाफ़ाख़ोर मज़दूरों का ज़्यादा से ज़्यादा शोषण कर सकें।

मज़दूरों की ज़िन्दगी की क़ीमत इस व्यवस्था में कुछ नहीं होती। वे महज़ इस व्यवस्था को ज़िन्दा रखने के औज़ार हैं। उन्हें उतना ही मिलता है, जितने में वे मुश्किल से ज़िन्दा रह सकें।

अगर हम एक संवेदनशील इन्सान हैं तो ज़रूर ही हमें शोषण पर आधारित इस व्यवस्था को ख़त्म करने के बारे में सोचना होगा क्योंकि जबतक यह व्यवस्था रहेगी तब तक सूरत और शिवमोगा जैसी हज़ारों बर्बर घटनाएँ होती रहेंगी। इसका एकमात्र विकल्प यही हो सकता है कि सभी संसाधनों पर श्रम करने वाले लोगों का हक़ हो, ना कि चन्द पूँजीपतियों का। सारी व्यवस्था के केन्द्र में लोग हों। तभी हम मानवता के भविष्य की एक सुखद कल्पना कर सकते हैं।

भण्डारा में 10 नवजात शिशुओं की मौत की ज़िम्मेदार पूँजीवादी व्यवस्था है

– अविनाश

भण्डारा में 10 नवजात शिशुओं की मौत की घटना हर संवेदनशील व्यक्ति को अन्दर तक झकझोर कर रख सकती है। किसी भी व्यक्ति के अन्दर उन माओं की चीख़ों-चीत्कारों को सुनकर ज़रूर छटपटाहट पैदा होगी। अगर ऐसा नहीं है, तो शायद आप भी इस मुनाफ़ा केन्द्रित व्यवस्था के अन्दर गिद्ध व नरभक्षी जमात में शामिल हो चुके हैं। भण्डारा ज़िला अस्पताल के SNCU (Sick Neonatal Care Unit) में आग लगने की वजह से 10 नवजात शिशुओं की मौत हो गयी। इन शिशुओं की उम्र 7 दिन से 3 महीने के बीच थी। जिनमें से 3 शिशुओं की मौत आग में बुरी तरह से झुलस जाने से हुई , वही 7 शिशुओं की मौत आग का धुआँ साँसों में जाने से हुई। आग की घटना रात के 1:30 बजे घटी थी। मगर इसकी ख़बर 2 बजे मिली। जिसके चलते 17 शिशुओं के वार्ड में 7 शिशुओं को ही बचाया जा सका, बाक़ी 10 शिशुओं को जान गँवानी पड़ी। मगर यह महज़ लापरवाही की घटना नहीं है।

यह हादसा नहीं, हत्या है!

भण्डारा ज़िला अस्पताल SNCU (Sick Neonatal Care Unit) को 2015 में बिना किसी आग के सुरक्षा इन्तज़ामात के खोला गया था। जिसका उद्घाटन तब हुआ था, जब भाजपा की सरकार मौजूद थी। वहीं मौजूदा शिवसेना-कांग्रेस-एनसीपी की सरकार में भी आग से सुरक्षा के इन्तज़ाम के लिए 1.52 करोड़ रुपये का प्रस्ताव पिछले 7 महीने से मंज़ूर नहीं किया गया था। सिविल सर्जन द्वारा 2 बार नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ़ फ़ायर सेफ़्टी इंजीनियरिंग को सुरक्षा इन्तज़ामात के लिए लिखा गया था, मगर सरकार के कान में जूँ तक नहीं रेंगी। आज तमाम चुनावबाज़ पार्टियों के नेता मगरमच्छ के आँसू बहाने का काम कर रहे हैं। पर यह घटना पूरी तरह से सरकार की अनदेखी का नतीजा है।

अस्पतालों में सुरक्षा इन्तज़ाम को देखें तो तस्वीर और स्पष्ट हो जाती है। नेशनल एक्रीडिटेशन बोर्ड फ़ॉर हॉस्पिटल्स एण्ड हेल्थकेयर प्रोवाइडर्स (NABH) के अनुसार अस्पताल में आग से सुरक्षा इन्तज़ामात के लिए आग बुझाने का यंत्र, पानी छिड़काव, स्वचालित फ़ायर अलार्म आदि का होना एक ज़रूरी शर्त है। मगर भण्डारा अस्पताल में इसके हिसाब से इन्तज़ाम नहीं किये गये थे। वहीं NABH द्वारा पिछले 2 साल से कोई मॉक ड्रिल भी नहीं किया गया है। भण्डारा अस्पताल डॉक्टर और नर्सें की कमी से जूझ रहा है। राज्य सरकार की गाइडलाइन के अनुसार SNCU में 16 बेड्स पर 3 नर्स होनी चाहिए। मगर भण्डारा ज़िला अस्पताल में 36 नर्स की ख़ाली जगह पर सिर्फ़ 28 नर्स ही भर्ती हुई थीं। घटना की रात को भी 17 बेड पर सिर्फ़ 2 नर्स मौजूद थी। एक आँकड़े के अनुसार जनवरी 2010 से दिसम्बर 2019 तक 33 अस्पतालों में इसी तरह आग की घटना देखनो को मिली है। पूरे भारत में स्वास्थ्य की बात करें तो 130 करोड़ की आबादी में सिर्फ़ 10 लाख रजिस्टर्ड डॉक्टर मौजूद हैं। 10,189 लोगों पर एक सरकारी अस्पताल का डॉक्टर मौजूद है। एक सरकारी अस्पताल का बेड 2046 लोगों पर मौजूद है। 90,043 लोगों पर एक सरकारी अस्पताल है। ऐसे में एक तरफ़ वैसे ही सरकारी अस्पताल और डॉक्टर की कमी है, जो मौजूद है उनकी भी बेहद ख़स्ता हालत है। ऐसे में मुनाफ़े कमाने की होड़ में आम आबादी की ज़िन्दगी से खेलने का काम किया जा रहा है।

ऐसे में यह समझने की ज़रूरत है कि यह घटना कोई अपवाद नहीं है। सरकार के ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रवैये के कारण पिछले कुछ वर्षों में देश भर के सरकारी अस्पतालों में सैकड़ों नागरिकों और बच्चों को अपनी जान गँवानी पड़ी है। पिछले छह महीनों में देश में इस तरह की यह तीसरी घटना है। नवम्बर 2020 में, गुजरात के राजकोट में एक अस्पताल में आग लगने से कोरोनरी हृदय रोग के पाँच रोगियों की मौत हो गयी। इसी तरह की घटना अगस्त 2020 में अहमदाबाद के एक अस्पताल में हुई थी जिसमें आठ कोरोना पीड़ितों की मृत्यु हो गयी थी। अगस्त 2017 में, गोरखपुर के एक सरकारी अस्पताल में छह दिनों में 64 बच्चों की मौत हो गयी। सरकार ने उन वितरकों के बिलों का भुगतान नहीं किया जिनसे सरकार कई महीनों से अस्पताल के लिए ऑक्सीजन ले रही थी। इसलिए वितरक ने अस्पताल में ऑक्सीजन की आपूर्ति बन्द कर दी। सरकार द्वारा बिलों का भुगतान न करने के कारण 64 बच्चों की जान चली गयी। जून 2019 में, बिहार के मुज़फ़्फ़रपुर में मेनिन्जाइटिस से 116 बच्चों की मौत हो गयी, क्योंकि सरकार इस प्रकोप को रोकने के लिए तैयार नहीं थी। इन सभी घटनाओं के लिए केवल सरकार की लापरवाही ज़िम्मेदार है। इसलिए, ये घटनाएँ दुर्घटनाएँ नहीं हैं। इन मामलों में होने वाली मौतें दुर्घटनाएँ नहीं हैं बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा की गयी हत्याएँ हैं।

हाल ही में 1 फ़रवरी को वित्त मंत्री निर्मला सीतारमण ने स्वास्थ्य के बजट में 137% वृद्धि की बात कही है। 'प्रधानमंत्री स्वस्थ भारत अभियान' की घोषणा की गयी है। मगर इतिहास बताता है कि इन तमाम ढकोसलों के बीच ही गोरखपुर में ऑक्सीजन सिलिण्डर की कमी से 64 बच्चों की मौत हो गयी थी व दिमाग़ी बुखार से सैकड़ों बच्चे मर गये थे। इन घटनाओं के बाद ही सरकार इसी तरह कभी 400 बेड के मल्टी स्पेशलिटी हॉस्पिटल की बात करती है तो कभी कड़ी कार्यवाई का आश्वासन देती है। मगर यह महज़ खोखले वायदे ही साबित होते हैं। कोरोना काल में जब लोग मर रहे थे, तब भी थाली-ताली का ख़ूब शोर दिख रहा था। ऐसे में आज ज़रूरी है कि सम्पूर्ण स्वास्थ्य प्रणाली का राष्ट्रीयकरण कर सभी के लिए मुफ़्त, गुणवत्तापूर्ण और सुरक्षित स्वास्थ्य व्यवस्था के अधिकार के लिए संघर्ष तेज़ करने का काम हाथ में लिया जाये।

फ़ासिस्टों द्वारा जनता के जनवादी और नागरिक अधिकारों पर हमले बदस्तूर जारी

पिछली 11-12 जनवरी की रात को पुलिस ने सिंघू बॉर्डर पर किसान धरने से 'मज़दूर अधिकार संगठन' की कार्यकर्ता नवदीप कौर को उठा लिया। कुछ दिन पहले नवदीप ने कुण्डली में मज़दूरों को बकाया वेतन दिलाने के आन्दोलन में हिस्सा लिया था। नवदीप तभी से करनाल की जेल में बन्द हैं। उनके साथ जेल में मारपीट की गयी और यौन प्रताड़ना भी दी गयी।

उसके कुछ ही सप्ताह बाद इफ़्टू के ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता अनिमेश को दिल्ली पुलिस ने उनके घर से उठा लिया। प्रगतिशील महिला संगठन की पूनम कौशिक को उनके घर में ही क़ैद कर दिया गया। 6 फ़रवरी को किसान आन्दोलन के देशव्यापी चक्का जाम के समर्थन में दिल्ली के शहीदी पार्क में नागरिक व कई जन संगठन प्रदर्शन के लिए इकट्ठा होने वाले थे लेकिन पुलिस ने प्रदर्शन में शामिल होने वाले सभी मुख्य चेहरों को पहले ही हिरासत में ले लिया या घर में ही क़ैद कर दिया। दिल्ली की चार सीमाओं पर बड़ी संख्या में किसानों का धरना 26 नवम्बर से ही जारी है। न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) को बचाने की इनकी मुख्य माँग से असहमति के बावजूद हम इस आन्दोलन के फ़ासीवादी दमन का कड़ा विरोध करते हैं। फ़ासीवादी मोदी सरकार अपने ख़िलाफ़ उठने वाली हर आवाज़ को चुप कराने में पूरी ताक़त लगा रही है। तमाम सामाजिक कार्यकर्ताओं, ट्रेड यूनियन नेताओं, छात्रों-नौजवानों को झूठे मुक़दमों में फँसाकर उनकी आवाज़ बन्द करने की कोशिश की जा रही है। हम इस हिटलरशाही की कड़े शब्दों में भर्त्सना करते हैं और यह माँग करते हैं कि सभी साथियों को बिना शर्त तुरन्त रिहा किया जाये।

‘वादा ना तोड़ो अभियान’ के तहत पटना में हुआ ‘रोज़गार अधिकार महाजुटान’

– बिहार डेस्क

इस बार के बिहार विधान सभा चुनाव में रोज़गार एक मुख्य मुद्दा बनकर उभरा था और हर पार्टी द्वारा रोज़गार के मुद्दे पर बड़े-बड़े चुनावी वादे किये गये थे। उनमें से नीतीश की गठबन्धन सरकार ने 19 लाख रोज़गार का वादा किया था। इसी के मद्देनज़र बिहार में ‘वादा न तोड़ो अभियान’ की शुरुआत की गयी जिसमें कि सरकार से यह माँग की गयी कि वह 19 लाख रोज़गार कैसे देगी इसकी रूप रेखा जनता के सामने प्रस्तुत करे। इसके अलावा इस अभियान में राज्य स्तर पर भगतसिंह रोज़गार गारण्टी क़ानून बनाने की माँग उठायी गयी व और भी अन्य माँगें शामिल की गयीं। यह अभियान बिहार के कई ज़िलों में चलाया गया। मुख्य रूप से पटना में और गया व जेहानाबाद के कुछ गाँवों में यह अभियान चलाया गया। ‘वादा ना तोड़ो अभियान’ के तहत दिहाड़ी मज़दूरों, छात्रों, नौजवानों, घरेलू कामगार महिलाओं के बीच जाकर मुख्य रूप से 19 लाख रोज़गार का वादा पूरा करने और रोज़गार की गारण्टी हेतु क़ानून बनाने की माँग की गयी।

31 जनवरी को पटना के **चित्कोहरा गोलम्बर के आगे** से लेकर गर्दनीबाग धरना स्थल तक एक जुलूस निकाला गया, जिसमें सैकड़ों की संख्या में लोग शामिल हुए। इसमें ज़्यादातर दिहाड़ी मज़दूर थे और घरेलू कामगार महिलाएँ थीं, इसके अलावा छात्र-युवा भी शामिल थे। यह जुलूस गर्दनीबाग धरना स्थल पर पहुँच कर धरना में तब्दील हो गया। विभिन्न वक्ताओं ने रोज़गार अधिकार क़ानून की ज़रूरत पर विचार रखे। प्रतिनिधिमण्डल के द्वारा सरकार को अपनी माँगों का ज्ञापन देने के साथ ही इन माँगों के समर्थन में जनता से जुटाये गये क़रीब 1000 हस्ताक्षर भी सरकार को सौंपे गये। इस धरने को बिगुल मज़दूर दस्ता की वारुणी पूर्वा ने सम्बोधित करते हुए कहा कि यह सिर्फ़ एक शुरुआत है। रोज़गार गारण्टी क़ानून को पारित कराने की लड़ाई लम्बी चलेगी। लेकिन जब तक यह माँग पूरी नहीं होगी जनता भी चुप नहीं बैठेगी। यदि यह सरकार अभी नहीं झुकती तो हमें और बड़े स्तर पर हर एक गाँव-कस्बों-मोहल्लों में इस माँग को उठाना होगा और इससे बड़े स्तर पर एकजुट होकर संघर्ष करना होगा।

इसके बाद नौजवान भारत सभा की तरफ़ से विवेक ने सभा को सम्बोधित करते हुए बताया कि न सिर्फ़ रोज़गार गारण्टी की माँग बल्कि इस दीर्घकालिक माँग के अलावा जो तात्कालिक माँग है उसपर हमें अपनी एकजुटता से सरकार को झुकाना होगा। इन माँगों में लेबर कार्ड, पी.एफ़., ई.एस.आई., पेंशन, न्यूनतम वेतन आदि की माँग शामिल है। इसे जल्द से जल्द पूरा करने के वादे पर सरकार को झुकाना होगा और साथ ही नितीश सरकार के 19 लाख रोज़गार के वादे का हिसाब भी लेना होगा। नहीं तो हर बार सरकारें बनती हैं और अपने वादे से मुकर जाती हैं क्योंकि जनता द्वारा उन्हें उनके वादे याद नहीं दिलाये जाते। इस बार हमें यह ग़लती नहीं दोहरानी है। यदि इन माँगों पर जल्द ही कार्रवाई नहीं की जाती तो हमें इससे बड़े स्तर पर एकजुट होना पड़ेगा। इसके बाद नितीश सरकार द्वारा छात्रों को किये गये वादे पर दिशा छात्र संगठन की तरफ़ से अजीत ने अपनी बात रखी। अन्त में भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी की तरफ़ से देबाशीष ने भगतसिंह रोज़गार गारण्टी क़ानून की माँग के समर्थन मे अपना वक्तव्य रखा। इस प्रदर्शन के दौरान सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया। सभा की समाप्ति इस प्रण के साथ की गयी कि अगर मौजूदा राज्य सरकार ज्ञापन मे लिखित माँगों पर कार्रवाई नहीं करती है तो निकट भविष्य मे रोज़गार के प्रश्न पर फिर से इससे भी बड़े पैमाने पर सरकार को घेरा जायेगा।

भगतसिंह रोज़गार गारण्टी क़ानून की माँग असल में छात्र-कर्मचारी-कामगार-मज़दूर सबकी माँग है।

देश का संविधान हरेक नागरिक को सम्मानजनक जीवन जीने का अधिकार देता है। परन्तु, वास्तव में यह अधिकार तभी अमल में आ सकता है, जब लोगों के पास रोज़गार हो व उन्हें सम्मानजनक मेहनताना भी मिले। यह सरकार की ज़िम्मेदारी है कि वह देश के नागरिकों के लिए रोज़गार के अवसर पैदा करे। पर यहाँ हालात ये हैं कि रोज़गार के प्रश्न से राज्य व केन्द्र सरकार दोनों ही अपने हाथ खींच रही हैं। भाजपा के नेतृत्व वाली मौजूदा केन्द्र सरकार, तमाम सरकारी उपक्रमों (रेलवे, बीएसएनएल आदि) को बेच रही है व जो बची-खुची सरकारी नौकरियाँ हैं, उन्हें भी ख़त्म कर रही है या ठेके पर दे रही है। असंगठित क्षेत्र मे काम करने वाले श्रमिकों की एक बड़ी आबादी पर भी अनिश्चितता की तलवार लटकती रहती है। एक तो उनके हितों की रक्षा के लिए पहले से ही कम क़ानून हैं, जो शायद ही धरातल पर कार्यान्वित होते हैं, पर अब तो मालिकों की जमात की सेवा करनी वाली यह सरकार उन क़ानूनों को भी ख़त्म कर रही है।

बिहार की बात की जाये तो यहाँ बेरोज़गारी और भी विकराल रूप धारण कर रही है। पिछले वर्ष आयी EIMC की रिपोर्ट के मुताबिक़ बिहार की बेरोज़गारी दर 10.2 % है। लॉकडाउन के वक़्त अप्रैल-मई में तो यह 46% पहुँच गयी थी। बड़ी संख्या में यहाँ की काम करने योग्य आबादी को रोज़गार की तलाश मे बाहरी राज्यों की तरफ़ पलायन करना पड़ता है। किसी भी क्षेत्र में काम करने वाली आबादी चाहे वो दिहाड़ी मज़दूर हो, कामगार महिलाएँ हों या छात्र-नौजवान आबादी हो, सभी के ऊपर अनिश्चितता की तलवार लटकी रहती है और किसी के भी पास साल के 365 दिन पक्के रोज़गार की गारण्टी नहीं है। इसी अनिश्चितता को ख़त्म करने के लिए रोज़गार गारण्टी क़ानून बनाने की माँग एक ज़रूरी माँग है। यह माँग असल में इस पूँजीवादी व्यवस्था का पर्दाफ़ाश करने का काम भी करती है। इसलिए यह माँग राष्ट्रीय स्तर पर विगत चार साल से बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा व दिशा छात्र संगठन द्वारा उठायी जा रही है। पूरे देश में भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून अभियान चलाया जा रहा है। इस अभियान के तहत वर्ष 2018 व 2019 मे दिल्ली में रोज़गार अधिकार रैली का आयोजन किया गया था, जिसमें देश भर से हज़ारों की तादाद मे छात्र-युवा, असंगठित मज़दूर, आंगनबाड़ी कर्मी रोज़गार सम्बन्धित अपनी माँगों को लेकर शामिल हुए थे जहाँ केन्द्र सरकार के समक्ष पूरे देश में रोज़गार गारण्टी क़ानून लागू करने की माँग की गयी थी। भगतसिंह रोज़गार गारण्टी क़ानून की माँग को राज्य स्तर पर भी पूरे देश के अलग-अलग राज्यों में उठाया जा रहा है। और इस बार बिहार में चल रहे ‘वादा ना तोड़ो अभियान’ के तहत भी रोज़गार गारण्टी क़ानून बनाने की माँग एक प्रमुख माँग के बतौर रखी गयी।

चूँकि इस बार बिहार विधान सभा चुनाव मे रोज़गार के मुद्दे ने तूल पकड़ा था। ख़ुद नीतीश कुमार भी इस सवाल पर घिरते नज़र आ रहे थे, इसलिए आनन-फ़ानन में भाजपा-जदयू गठबन्धन को भी राज्य की जनता को 19 लाख रोज़गार देने का वादा करना पड़ा। हालाँकि, यह भी घोषित सत्य है कि बिहार में बेरोज़गारी पिछले डेढ़ लगभग दशक में सबसे ज़्यादा जदयू-भाजपा के शासनकाल में ही बढ़ी है। बेरोज़गारी की मार सबसे ज़्यादा छात्रों-युवाओं, दिहाड़ी मज़दूरों व घरेलू कामगारों पर ही पड़ी है। पिछले वर्ष लॉकडाउन ने यह दिखा भी दिया।

दिहाड़ी निर्माण मज़दूरों की एक बड़ी आबादी बिहार में रहती है। ज़्यादातर लोग ग्रामीण क्षेत्रों से शहरों की ओर आते हैं, शहर में दड़बों जैसे किराये के लॉजों में नारकीय हालात में रहते हैं। ये मज़दूर हर सुबह शहर के अलग-अलग हिस्सों में रोज़गार की तलाश में लेबर चौकों पर खड़े होते हैं, लेकिन महीने में औसतन 12 से 15 दिन ही इन्हें काम मिल पाता है, कोरोना संक्रमण के कारण हुए लॉकडाउन के बाद अब तो इन्हें बमुश्किल 7 से 8 दिन ही काम मिल पाता है। साल के सारे दिन रोज़गार की गारण्टी नहीं होने से इन मज़दूरों को कई दिक़्क़तों का सामना करना पड़ता है। इनके लिए न्यूनतम मज़दूरी भी सरकार द्वारा तय की गयी है, परन्तु शायद ही न्यूनतम मज़दूरी की दर पर इनको भुगतान किया जाता है। लॉकडाउन के दौरान ऐसे भी मामले आये जब इनके काम छूट गये व इनके नियोक्ताओं ने इन्हें इनका बकाया पैसा भी नहीं दिया। निर्माण मज़दूरों का लेबर कार्ड बनाने व पंजीकरण का भी प्रावधान है, पर अधिसंख्य मज़दूरों के पास वह भी नहीं है। अगर कोई मज़दूर काम के दौरान घायल हो जाये या कभी बीमार ही पड़ जाये तो उसे अपना इलाज कराना भी दूभर हो जाता है। मज़दूरों को किसी भी तरह की स्वास्थ्य बीमा व पेंशन सुविधा भी प्राप्त नहीं हो पाती है।

कुछ ऐसी ही हालत घरेलू कामगार महिलाओं की भी है। सिर्फ़ राजधानी पटना में हजारों की तादाद में ऐसी महिलाएँ हैं, जो दूसरों के घरों में झाड़ू-पोछा, बर्तन-कपड़े धोने व खाना बनाने का काम करती हैं। अक्सर इन घरेलू कामगार महिलाओं को शोषण व अपमान दोनों का सामना करना पड़ता है। अव्वल बात तो ये कि न तो केंद्रीय स्तर पर और न ही राज्य स्तर पर ऐसा ठोस क़ानूनी ढांचा मौजूद है, जिससे इन घरेलू कामगारों के हितों की रक्षा हो सके। वर्ष 2008 में घरेलू कामगार क़ानून को उस वक़्त की केन्द्र सरकार द्वारा प्रस्तावित किया गया था, परन्तु आज तक यह अधर में ही है। मौजूदा केन्द्र सरकार ने भी वर्ष 2018 में घरेलू कामगारों के लिए एक राष्ट्रीय नीति बनाने के बात कही थी, परन्तु लगभग तीन साल बीतने के बावजूद भी इस दिशा में अभी तक कोई सकारात्मक पहल नहीं ली गयी है। बिहार सरकार के श्रम विभाग ने भले ही घरेलू कामगारों के लिए विभिन्न तरह के कामों के लिए न्यूनतम वेतन तय किया है, परन्तु शायद ही घरेलू कामगारों के नियोक्ताओं द्वारा इसका पालन किया जाता है। लॉकडाउन के दौरान कई घरेलू कामगार महिलाओं को काम से निकाल दिया गया, कइयों को तो उनके बकाया पैसे भी नहीं मिले। ऐसे न जाने कितने उदाहरण हैं जो ये सिद्ध करते हैं कि इन घरेलू कामगारों के लिए 365 दिन रोज़गार की गारण्टी होना कितना ज़रूरी है।

बिहार में छात्रों-युवाओं की बड़ी आबादी है, जो एक अदद नौकरी की बाट जोहते हुए न जाने कितने वर्षों से प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कर रही है। वैसे तो पूरे देश में सरकारी नौकरियों के लिए होने वाली परीक्षाएँ व उनके परिणाम निकलने व बहाली पूरी होने में वर्षों का समय लगना एक सामान्य बात बन चुकी है। परन्तु बिहार के सन्दर्भ में नियुक्ति प्रक्रियाओं में यह समस्या बहुत गंभीर है। वर्ष 2015 में बीएससी की स्नातक स्तरीय बहाली के लिए प्राथमिक परीक्षा आयोजित हुई थी।

(पेज 6 पर जारी)

करोड़ों मज़दूरों-कर्मचारियों पर क़हर बरपा करने वाले चार लेबर कोड लागू करने की हड़बड़ी में मोदी सरकार

(पेज 1 से आगे)

छिपाने का काम किया है। मज़दूरों को आना-पाई की छोटी-छोटी लड़ाइयों में उलझाकर उनकी लड़ाकू क्षमता और जुझारू तेवरों को इन्होंने लगातार कुन्द करने का काम किया है। एक-एक करके मज़दूरों से उनके अधिकार छीने जाते रहे हैं और ये सिर्फ़ गाल बजाते रहे हैं।

इन चारों लेबर कोड के मामले में भी लाल कलगी वाले इन तोतों ने सरकार के कन्धे पर बैठकर कुछ खेंखें-टेंटें करने के अलावा कुछ नहीं किया। श्रम सचिव ने कह दिया है कि सभी पक्षों (यूनियनों सहित) से वार्ताओं के बाद न्यूनतम मज़दूरी तय करने के लिए कमेटी बना दी गयी है। त्रिपक्षीय विचार-विमर्श (यानी सरकार, मालिकान और मज़दूरों के प्रतिनिधियों के बीच) लगभग पूरा हो चुका है और पेशागत सुरक्षा कोड तथा सामाजिक सुरक्षा कोड के बारे में बस एक अन्तिम राउण्ड हो सकता है। पिछली 12 जनवरी को श्रम मंत्रालय में नियोक्ताओं के प्रतिनिधियों, उद्योगपतियों के प्रतिनिधियों और कुछ ट्रेड यूनियनों के नेताओं की मीटिंग हुई जिसके बाद सरकार ने कहा कि उनके सुझाव सुन लिये गये हैं और नियम बनाते समय उनमें से कुछ को ध्यान में रखा जायेगा। वाम पार्टियों की यूनियनों सहित 10 केन्द्रीय यूनियनों ने इस मीटिंग का बहिष्कार किया। **बस। और कुछ नहीं!** फिर जब ये विनाशकारी क़ानून लागू हो जायेंगे, तब मज़दूर हितों के ये ग़द्दार बेशर्मी से रोना रोयेंगे कि सरकार ने तो हमारी सुनी ही नहीं।

इन क़ानूनों के विरुद्ध मज़दूरों के सड़क पर न उतरने के और भी कारण हैं। सम्पत्तिधारी वर्ग अपने विशेषाधिकार (जैसे कि लाभकारी मूल्य) के खोने पर ज़्यादा जल्दी संगठित होते हैं; कुछ खोने का डर तात्कालिक तौर पर इन वर्गों को जल्दी एकजुट कर देता है। उनके लिए गोलबन्द होना ज़्यादा आसान भी होता है क्योंकि उनके पास इसके लिए आवश्यक संसाधन उन वर्गों की तुलना में ज़्यादा होते हैं जो सबकुछ खो चुके हैं, जैसे कि सर्वहारा वर्ग या जो सबकुछ खोने की कगार पर खड़े हैं, जैसे कि ग़रीब और सीमान्त किसान, अर्द्धसर्वहारा और निम्न मध्यवर्ग। यही वजह है कि सर्वहारा वर्ग, अर्द्धसर्वहारा वर्ग, ग़रीब और सीमान्त किसान व निम्न मध्य वर्ग के निचले संस्तर दूरगामी तौर पर कहीं ज़्यादा निर्णायक, रैडिकल और बड़े पैमाने पर गोलबन्द और संगठित होते हैं, लेकिन तात्कालिक तौर पर छोटा पूँजीपति वर्ग, व्यापारी, धनी किसान-कुलक ज़्यादा जल्दी और आसानी से एकजुट हो जाते हैं। जैसा कि हम आज देख रहे हैं। उन्हें राज्यसत्ता के वैसे बर्बर दमन का भी सामना नहीं करना पड़ता, जैसा मज़दूरों और ग़रीबों के आन्दोलनों को करना पड़ता है। मोदी-योगी और खट्टर की सरकारों ने बेशक किसान आन्दोलन को दबाने के लिए काफ़ी ताक़त झोंक रखी है और कई बार दमनकारी तरीक़े अपनाये हैं। लेकिन क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि अगर हज़ारों मज़दूर इस तरह से राजधानी के मुख्य हाइवे जाम करते तो क्या होता? पन्तनगर, बेलाडीला, दल्ली-राजहरा, भिलाई से लेकर कानपुर, चुनार और बबराला तक दर्जनों गोलीकाण्डों में मज़दूरों के आन्दोलनों को ख़ून में डुबो दिया गया। आदिवासियों और ग़रीब किसानों के आन्दोलनों पर भी गोलियाँ बरसाने में इस देश के शासकों को कभी सोचना नहीं पड़ा। इसका यह क़तई मतलब नहीं कि हम इस आन्दोलन का दमन चाहते हैं; बल्कि हम आन्दोलन को बलपूर्वक ख़त्म करने की मोदी सरकार की हर कार्रवाई की कठोर भर्त्सना करते हैं और आन्दोलन की माँगों से असहमत होने के बावजूद आन्दोलन करने के जनवादी अधिकार का समर्थन करते हैं। हम बस इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं कि सम्पत्तिशाली वर्गों के मुक़ाबले मज़दूरों के लिए आन्दोलन खड़ा करना ज़्यादा कठिन क्यों होता है।

चार लेबर कोड क्या हैं और मज़दूरों के लिए ख़तरनाक क्यों हैं?

यहाँ बताने की ज़रूरत नहीं है कि काग़ज़ पर मौजूद श्रम क़ानून पहले ही इतने लचीले और निष्प्रभावी थे कि आम तौर पर इनका फ़ायदा मज़दूरों को कम, मालिकों को ही ज़्यादा मिलता था। लेकिन फिर भी ये क़ानून पूँजीपतियों के लिए कभी-कभार सरदर्दी का सबब बन जाते थे, ख़ासकर जब मज़दूर इन्हें लागू कराने के लिए संघर्ष छेड़ देते थे। नरेन्द्र मोदी ने सत्ता में आते "कारोबार की आसानी" के नाम पर पूँजीपतियों को मज़दूरों की श्रम-शक्ति लूटने की खुली छूट देने का ऐलान कर दिया था। यही कारण है कि वर्षों के वर्ग संघर्ष के बल पर मज़दूरों ने जो भी अधिकार श्रम क़ानूनों के रूप में हासिल किये थे उसे फ़ासीवादी मोदी सरकार पूरी तरह से छीन लेना चाहती है ताकि मन्दी की मार से पूँजीपतियों के मुनाफ़े में जो भी रोड़ा है उसे हटाकर पूँजीपतियों को मज़दूरों की हड्डी-हड्डी निचोड़ लेने की छूट दी जा सके।

चुनाव में हज़ारों करोड़ का ख़र्च उठा कर अम्बानी-अडानी आदि ने मोदी को दोबारा सत्ता में इसीलिए पहुँचाया है ताकि जनता को झूठे मुद्दों पर बाँटकर पूँजीपतियों के मुनाफ़े के रास्ते में आने वाले हर स्पीडब्रेकर को पूरी तरह से हटाया जा सके। इसलिए वर्षों से जनता के पैसे पर खड़े सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को कौड़ियों के भाव इन पूँजीपतियों को सौंपा जा रहा है, सार्वजानिक शिक्षण संस्थानों और चिकित्सा संस्थानों को बर्बाद किया जा रहा है ताकि पूँजीपतियों को यहाँ भी लूटने में खुला हाथ दिया जा सके। और इसके साथ ही देश में 60 करोड़ मज़दूरों-मेहनतकशों की लूट को बेहिसाब बढ़ाने, उनके यूनियन बनाने के अधिकार यानी उनके सामूहिक मोलभाव की क्षमता को कमज़ोर करने और उनके संघर्ष को कुचलने की तैयारी को मोदी सरकार बड़े ज़ोर-शोर से अंजाम दे रही है।

इसी मक़सद से 44 मौजूदा केन्द्रीय श्रम क़ानूनों को ख़त्म कर चार कोड या संहिताएँ बनायी गयी हैं – मज़दूरी पर श्रम संहिता, औद्योगिक सम्बन्धों पर श्रम संहिता, सामाजिक सुरक्षा पर श्रम संहिता और औद्योगिक सुरक्षा एवं कल्याण पर श्रम संहिता। कहने के लिए तो श्रम क़ानूनों को तर्कसंगत और सरल बनाने के लिए ऐसा किया जा रहा है। लेकिन इसका एक ही मक़सद है, देशी-विदेशी कम्पनियों के लिए मज़दूरों के श्रम को सस्ती से सस्ती दरों पर और मनमानी शर्तों पर निचोड़ना आसान बनाना।

मोदी की पिछली सरकार में श्रम मंत्री बंडारू दत्तात्रेय ने पहले ही यह कहकर सरकार की नीयत साफ़ कर दी थी कि "श्रम क़ानूनों का मौजूदा स्वरूप विकास में बाधा बन रहा है, इसीलिए सुधारों की आवश्यकता है।" कहने की ज़रूरत नहीं कि विकास का मतलब पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ना ही माना जाता है। मज़दूरों को बेहतर मज़दूरी मिले, उनकी नौकरी सुरक्षित हो, उनके बच्चों को अच्छी शिक्षा और परिवार को सुकून की ज़िन्दगी मिले, इसे विकास का पैमाना नहीं माना जाता। इसलिए, विकास के लिए ज़रूरी है कि थैलीशाहों को अपनी शर्तों पर कारोबार शुरू करने, बन्द करने, लोगों को काम पर रखने, निकालने, मनचाही मज़दूरी तय करने आदि की पूरी छूट दी जाये और मज़दूरों को यूनियन बनाने, एकजुट होने जैसी "विकास-विरोधी" कार्रवाइयों से दूर रखा जाये।

मज़दूरी पर कोड – पूँजीपतियों को बेहिसाब मुनाफ़ा निचोड़ने की छूट देने वाला क़ानून

इस क़ानून के लागू होने के साथ ही चार पुराने क़ानूनों – वेतन भुगतान अधिनियम 1936, न्यूनतम वेतन अधिनियम 1948, बोनस भुगतान अधिनियम 1965 और समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 को ख़त्म कर दिया गया है। इसके अन्तर्गत पूरे देश के लिए वेतन का न्यूनतम तल-स्तर निर्धारित किया जायेगा। सवाल है कि तल-स्तर निर्धारित करने के लिए तरीक़ा क्या अपनाया गया है। हालाँकि, सरकार का कहना है कि एक त्रिपक्षीय समिति इस तल-स्तर का निर्धारण करेगी, मगर इस सरकार के श्रम मंत्री पहले ही नियोक्ताओं के प्रति अपनी उदारता दिखाते हुए **प्रतिदिन के लिए तल-स्तरीय मज़दूरी 178 रुपये** करने की घोषणा कर चुके हैं। यानी, इस न्यूनतम मज़दूरी के हिसाब से महीने में 26 दिन काम करने वाले की मासिक आमदनी होगी महज़ 4,628 रुपये! यह राशि ख़ुद इसी सरकार की विशेषज्ञ समिति द्वारा सुझायी गयी 9,750 रुपये से 11,622 रुपये की न्यूनतम मासिक आमदनी से बेहद कम है, और आर्थिक सर्वेक्षण 2017 में सुझाये गये 18,000 रुपये के मासिक वेतन का एक-चौथाई मात्र है। सातवें वेतन आयोग ने भी सरकारी कर्मचारियों के लिए न्यूनतम मूल वेतन 18,000 रुपये ही तय किया है।

पन्द्रहवें राष्ट्रीय श्रम सम्मलेन (1957) की सिफ़ारिशों के अनुसार न्यूनतम मज़दूरी, खाना-कपड़ा-मकान आदि बुनियादी ज़रूरतों के आधार पर तय होनी चाहिए। आगे चलकर, सुप्रीम कोर्ट के 1992 के एक निर्णय (रेप्टाकोस ब्रेट्ट एण्ड कं. बनाम मज़दूर) के अनुसार इसमें बच्चों की शिक्षा, दवा, मनोरंजन, बुढ़ापे के इन्तज़ाम आदि कारकों को भी शामिल किया गया था। केन्द्र और राज्य सरकारें तो वैसे भी इन निर्देशों का पालन नहीं करती थीं, अब मोदी सरकार ने उसी को क़ानूनी जामा पहना दिया है। यहाँ तक कि सरकार द्वारा नियुक्त की गयी विशेषज्ञ समिति ने भी न्यूनतम मज़दूरी तय करने के लिए इन दिशा-निर्देशों के साथ छेड़छाड़ करते हुए कैलोरी की ज़रूरी खपत को 2700 की बजाय 2400 पर रखा है और तमाम बुनियादी चीज़ों की लागत भी 2012 की क़ीमतों के आधार पर तय की है।

इस कोड में 'रोज़गार सूची' (एम्प्लॉयमेण्ट शेड्यूल) को हटा दिया गया है जो श्रमिकों को कुशल, अर्द्धकुशल और अकुशल की श्रेणी में बाँटती थी। इससे कुशल, अर्द्धकुशल मज़दूरों को नुक़सान होगा। पहले ही ज़्यादातर औद्योगिक क्षेत्रों में कुशल मज़दूरों का काम करवाकर अकुशल मज़दूरी दी जाती रही है। अब यही काम क़ानूनी तौर पर कराया जायेगा और मज़दूर इसके विरुद्ध लड़ भी नहीं सकेंगे।

इस कोड में न्यूनतम मज़दूरी की दर समयानुसार (टाइम वर्क) और मात्रानुसार (पीस वर्क) तय होगी और वेतनकाल घण्टे, दिन या महीने के हिसाब से हो सकता है। यह नियम सुप्रीम कोर्ट के न्यूनतम मज़दूरी सम्बन्धी फ़ैसलों की धज्जियाँ उड़ाता है। सुप्रीम कोर्ट ने यह कई बार दोहराया है कि न्यूनतम मज़दूरी व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं के हिसाब से तय होनी चाहिए, न केवल मज़दूरों की साधारण शारीरिक ज़रूरतों व उत्पादन के आधार पर। सुप्रीम कोर्ट के अनुसार न्यूनतम मज़दूरी तय करते समय आहार-पोषण, पहनने-रहने, इलाज का ख़र्च, पारिवारिक ख़र्च, शिक्षा, ईंधन, त्योहारों, और समारोहों के ख़र्च, बुढ़ापे और अन्य ख़र्चों का ध्यान रखा जाना चाहिए। मगर इसे कोड में दरकिनार कर दिया गया है।

कोड में मज़दूरों से बेतहाशा काम करवाने का भी क़ानूनी इन्तज़ाम कर दिया गया है। मौजूदा व्यवस्था में दिन में 9 घण्टे से ज़्यादा काम और सप्ताह में 48 घण्टे से ज़्यादा काम ओवरटाइम कहलाता है। ओवरटाइम की इस परिभाषा को ख़त्म करके "पूरक कार्य" और "अनिरन्तर काम" की लच्छेदार भाषा के बहाने ओवरटाइम के लिए मिलने वाली अतिरिक्त मज़दूरी को ख़त्म करने की चाल चली गयी है। इसी तरह 1965 के बोनस भुगतान क़ानून ने नयी कम्पनियों को बोनस न देने की छूट दी थी, लेकिन वर्तमान कोड में 'नयी कम्पनी' किसे कहा जा सकता है, इसे अस्पष्ट बनाकर कम्पनियों को बोनस देने से छुटकारा दिलाने की योजना है। इस कोड में कम्पनियों की अनुमति के बिना उनकी बैलेंस शीट उजागर करने पर सरकारी अधिकारियों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। तर्क यह दिया गया है कि "कम्पनियों पर विश्वास करना चाहिए!" यानी अब अगर कम्पनी कहेगी कि हमें घाटा हो रहा है, इसलिए हम मज़दूरों-कर्मचारियों को बोनस नहीं देंगे, तो सरकार इस पर विश्वास कर लेगी और बोनस माँगने वाले मज़दूरों को फटकार लगायेगी।

अनुच्छेद 18 काम में असन्तोष होने पर मालिकों को वेतन काट लेने का अधिकार देता है। लेबर इंस्पेक्टर की जगह फ़ैसिलिटेटर की बात करता है। प्रस्तुत कोड ऑनलाइन निरीक्षण पर ज़ोर देता है, जिससे कारख़ाने में अचानक किये जाने वाले निरीक्षण की प्रथा ख़त्म हो जायेगी। यही नहीं इस कोड में इण्टरनेट द्वारा 'सेल्फ़-सर्टिफ़िकेशन' का भी प्रावधान है, यानी मालिक ख़ुद ही अपने को सर्टिफ़िकेट दे देगा कि उसके कारख़ाने में सारे श्रम क़ानूनों का पूरा पालन हो रहा है। वेतन में संशोधन के लिए तय समय सीमा जो पहले हर 5 साल में अनिवार्य थी अब उसे समाप्त कर दिया गया है और समीक्षा का विकल्प जोड़ दिया गया है। **न्यूनतम मज़दूरी की पाँच-पाँच सालों के अन्तर पर**

(पेज 6 पर जारी)

काले क़ानूनों के विरुद्ध मज़दूरों को ख़ुद ही लम्बी लड़ाई की तैयारी करनी होगी!

(पेज 5 से आगे)

समीक्षा करने की बात की गयी है। जबकि आलम यह है कि देश में साल-दर-साल महँगाई आसमान छू रही है।

नियमों का उल्लंघन करने वाले मालिकों की निगरानी किये जाने के प्रावधानों को बेहद कमज़ोर बना दिया गया है।

समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 यह सुनिश्चित करता था कि वेतन के मामले में या भर्ती करने या नौकरी की शर्तों में किसी तरह का लिंगभेद न हो। मगर वेतन संहिता से यह बात पूरी तरह से हटा दी गयी है और अब **मालिकों को स्त्री मज़दूरों को कम मज़दूरी देने की क़ानूनी छूट दे दी गयी है।**

व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और कार्यस्थल स्थिति संहिता – सरकार को मज़दूरों की जान की कोई परवाह नहीं

'व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य और कार्यस्थल स्थिति संहिता' में तो असंगठित मज़दूरों को कोई जगह ही नहीं दी गयी है। केवल 10 से ज़्यादा मज़दूरों को काम पर रखने वाले कारख़ानों पर ही यह लागू होगा, यानी मज़दूरों की बहुत बड़ी आबादी इस क़ानून के दायरे से बाहर होगी। नाम के उलट, इस कोड में मज़दूरों की सुरक्षा के साथ और ज़्यादा खिलवाड़ किया गया है। इसमें सुरक्षा समिति बनाये जाने को सरकार के विवेक पर छोड़ दिया गया है, जो पहले कारख़ाना अधिनियम, 1948 के हिसाब से अनिवार्य था। इस पुराने क़ानून में स्पष्ट किया गया था कि मज़दूर अधिकतम कितने रासायनिक और विषैले माहौल में काम कर सकते हैं, जबकि नये कोड में रासायनिक और विषैले पदार्थों की मात्रा का साफ़-साफ़ ज़िक्र करने के बजाय उसे निर्धारित करने का काम राज्य सरकारों के ऊपर छोड़ दिया गया है। मालिकों की सेवा में सरकार इस हद तक गिर गयी है कि इस कोड के मुताबिक़, अगर कोई ठेकेदार, मज़दूरों के लिए तय किये गये काम के घण्टे, वेतन और अन्य ज़रूरी सुविधाओं की शर्तें नहीं पूरी कर पाता, तो भी उस ठेकेदार को 'कार्य-विशिष्ट' लाइसेंस दिया जा सकता है। हर तरह के उद्योग में अलग-अलग क़िस्म के ख़तरे होते हैं, मगर इस कोड में उन विशिष्टताओं पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।

सामाजिक सुरक्षा संहिता – सारी सुरक्षा मालिकों को, सारी असुरक्षाएँ मज़दूरों के नाम

करोड़ों असंगठित मज़दूर तो पहले ही हर तरह की सामाजिक सुरक्षा से वंचित हैं। बड़ी कम्पनियों में काम करने वाले लगभग 90 प्रतिशत से ज़्यादा मज़दूर ईएसआई, पीएफ़, स्वास्थ्य बीमा, पेंशन आदि से वंचित रहते हैं। इस कोड में सरकार ने बातें तो बड़ी लच्छेदार की हैं जिनसे किसी को भ्रम हो सकता है कि सरकार मज़दूरों को सामाजिक सुरक्षा देने के लिए काम कर रही है। मगर वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है। कोड में त्रिपक्षीय वार्ताओं और मज़दूर प्रतिनिधियों की भूमिका को ही ख़त्म कर दिया गया है। इनकी जगह पर मज़दूरों के कल्याण की नीतियाँ बनाने और लागू कराने वाली संस्थाओं के रूप में राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा परिषद, केन्द्रीय बोर्ड और राज्यों के बोर्ड की बात रखी गयी है जिनमें ट्रेड यूनियनों की कोई भूमिका नहीं होगी।

ऐसी ही लच्छेदार बातें करते हुए कोड में कामगार स्त्रियों की बड़ी आबादी को मातृत्व लाभों से वंचित कर दिया गया है। प्रसूति के ठीक पहले और बाद में स्त्रियों से काम कराने पर रोक लगायी गयी है। लेकिन इसी में आगे कहा गया कि जो स्त्री "अपनी प्रसूति के ठीक पहले के 12 महीनों के दौरान कम से कम 80 दिनों तक किसी प्रतिष्ठान में काम कर चुकी होगी" वह मातृत्व लाभ पाने की हक़दार होगी। बताने की ज़रूरत नहीं कि ज़्यादातर मज़दूर स्त्रियाँ इसके दायरे से बाहर हो जायेंगी।

सामाजिक सुरक्षा के लिए फ़ण्ड बनाने के बारे में ढेर सारी जुमलेबाज़ी तो की गयी है लेकिन कुछ भी ठोस नहीं बताया गया है कि इसके लिए पैसे कहाँ से आयेंगे और मज़दूरों के लिए उन्हें कैसे ख़र्च किया जायेगा। पहले से मज़दूरों के लिए जो फ़ण्ड बने हुए हैं उनका हश्र देखने के बाद ऐसे हवाई फ़ण्ड से कोई उम्मीद करना मूर्खता ही होगी।

औद्योगिक सम्बन्ध संहिता – मज़दूरों के बचे-खुचे ट्रेड यूनियन अधिकारों पर हमला

सरकार तीन पुराने श्रम क़ानूनों – औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947, ट्रेड यूनियन अधिनियम 1926 और औद्योगिक रोज़गार अधिनियम 1946 को हटाकर उनकी जगह औद्योगिक सम्बन्ध श्रम संहिता लेकर आयी है। नरेन्द्र मोदी का कहना है कि औद्योगिक विवाद सही शब्द नहीं है क्योंकि मज़दूरों और पूँजीपतियों के बीच तो कोई विवाद वास्तव में है ही नहीं! उनके बीच दोस्ताना सम्बन्ध है जहाँ पूँजीपति मज़दूरों के अभिभावक के समान हैं और उनकी हर फ़िक्र को अपना समझते हैं! इसी से साफ़ है कि अपने पूँजीपति-आकाओं को ख़ुश करने में प्रधानमंत्री कितने तल्लीन हैं। वैसे भी सच को झूठ और झूठ को सच कहना फ़ासीवादियों की पुरानी आदत है। सच क्या है?

जिन कारख़ानों में 300 तक मज़दूर हैं, उन्हें लेऑफ़ या छँटनी करने के लिए सरकार की इजाज़त लेने की अब ज़रूरत नहीं होगी (पहले यह संख्या 100 थी)। मैनेजमेंट को 60 दिन का नोटिस दिये बिना मज़दूर हड़ताल पर नहीं जा सकते। अगर किसी औद्योगिक न्यायाधिकरण में उनके मामले की सुनवाई हो रही है, तो फ़ैसला आने तक मज़दूर हड़ताल नहीं कर सकते। **इन बदलावों का सीधा मतलब है कि कारख़ानों में हड़ताल लगभग असम्भव हो जायेगी** क्योंकि अगर 300 मज़दूरों से कम हैं (जो काग़ज़ पर दिखाना बिल्कुल आसान है), तो कम्पनी हड़ताल के नोटिस की 60 दिनों की अवधि में आसानी से छँटनी करके नये लोगों की भरती कर सकती है।

अब कम्पनियों को मज़दूरों को किसी भी अवधि के लिए ठेके पर नियुक्त करने का अधिकार मिल गया है। इसे फ़िक्स्ड टर्म एम्प्लॉयमेण्ट का नाम दिया गया है। मतलब साफ़ है कि अब ठेका प्रथा को पूरी तरह से क़ानूनी जामा पहनाने की तैयारी हो चुकी है, यानी कि अब पूँजीपति मज़दूरों को क़ानूनी तरीक़े से 3 महीने, 6 महीने या साल भर के लिए ठेके पर रख सकता है और फिर उसके बाद उन्हें काम से बाहर निकाल सकता है।

बुर्जुआ और संसदमार्गी वामपन्थी दलों से जुड़ी यूनियनें मज़दूरों के अतिसीमित आर्थिक हितों की हिफ़ाज़त के लिए भी सड़क पर उतरने की हिम्मत और ताक़त दुअन्नी-चवन्नी की सौदेबाज़ी करते-करते खो चुकी हैं। वैसे भी देश की कुल मज़दूर आबादी में 90 फ़ीसदी से अधिक जो असंगठित मज़दूर हैं, उनमें इनकी मौजूदगी बस दिखावे भर की ही है। अब सफ़ेद कॉलर वाले मज़दूरों, कुलीन मज़दूरों और सर्विस सेक्टर के मध्यवर्गीय कर्मचारियों के बीच ही इन यूनियनों का वास्तविक आधार बचा हुआ है और सच्चाई यह है कि नवउदारवाद की मार जब समाज के इस संस्तर पर भी पड़ रही है तो ये यूनियनें इनकी माँगों को लेकर भी प्रभावी विरोध दर्ज करा पाने में अक्षम होती जा रही हैं। वे अब मज़दूरों और ग़रीब किसानों के शोषक-उत्पीड़क धनी किसानों और कुलक-फ़ार्मरों की बारात में डांस करने लायक़ ही रह गये हैं।

बहरहाल, रास्ता अब एक ही बचा है। गाँवों और शहरों की व्यापक मेहनतकश आबादी को सघन राजनीतिक कार्रवाइयों के ज़रिये, जीने के अधिकार सहित सभी जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष करने के उद्देश्य से, उनके विशिष्ट पेशों की चौहद्दियों से आगे बढ़कर, इलाक़ाई पैमाने पर संगठित करना होगा। साथ ही, अलग-अलग सेक्टरों की ऐसी पेशागत यूनियनें संगठित करनी होगी, जिसके अन्तर्गत ठेका मज़दूर और सभी श्रेणी के अनियमित मज़दूर मुख्य ताक़त के तौर पर शामिल हों। पुराने ट्रेड यूनियन आन्दोलन के क्रान्तिकारी नवोन्मेष की सम्भावनाएँ अब अत्यधिक क्षीण हो चुकी हैं। अब एक नयी क्रान्तिकारी शुरुआत पर ही सारी आशाएँ टिकी हैं, चाहे इसका रास्ता जितना भी लम्बा और कठिन क्यों न हो।

'वादा ना तोड़ो अभियान' के तहत पटना में हुआ 'रोज़गार अधिकार महाजुटान'

(पेज 4 से आगे)

आज पाँच वर्ष के बाद भी यह प्रक्रिया पूरी नहीं हुई है। यही हाल सिविल इंजीनियर की परीक्षा के साथ भी हुआ है, वर्ष 2017 में सिविल इंजीनियर की बहाली निकली थी तब से लेकर आज तक लगभग 4 साल बीत चुके हैं, पर अभी तक बहाली प्रक्रिया सम्पन्न नहीं हुई है। वहीं पिछले साल जनवरी में आयोजित एसटीईटी (STET) परीक्षा को धाँधली के कारण रद्द घोषित किया गया, उसके बाद फिर से सितम्बर में यह परीक्षा ली गयी, परन्तु अभी तक इसका परिणाम नहीं निकला है। ऐसे और भी कई उदाहरण हैं। अक्सर इन समस्याओं के ख़िलाफ़ अभ्यर्थियों का ग़ुस्सा भी फूटता है, वे विरोध प्रदर्शन करते हैं, पर सरकार के कानों में जूं तक नहीं रेंगती है। छात्र अपने जीवन मे कई वर्ष तैयारी करते हुए बिता देते हैं, परन्तु उन्हें लम्बे इन्तज़ार व उपेक्षा के अलावा कुछ नहीं मिलता। इसलिए, छात्रों के लिए रोज़गार की माँग और सारे सरकारी पदों को जल्द भरने की माँग भी इस 'वादा ना तोड़ो' अभियान में शामिल किया गया था।

इन तमाम तबकों के बीच एक आम माँग रोज़गार गारण्टी क़ानून की माँग थी, उसके अलावा हर तबक़े की कुछ विशिष्ट माँगों को भी ज्ञापन में शामिल किया गया।

इस अभियान की कुछ मुख्य माँगें इस प्रकार थीं –

– 'सबको स्थायी रोज़गार व सभी को समान व निःशुल्क शिक्षा' के अधिकार को संवैधानिक संशोधन कर मूलभूत अधिकारों में शामिल करो।

– बिहार में जिन भी पदों पर परीक्षाएँ हो चुकी हैं उनमें पास उम्मीदवारों को तत्काल नियुक्तियाँ दो। सभी खाली पदों को जल्द से जल्द भरो। रिक्तियाँ निकालने से लेकर नियुक्त करने का काम 6 महीने के अन्दर पूरा करो।

– 'भगतसिंह रोज़गार गारण्टी क़ानून' पारित करो; गाँव और शहर दोनों के स्तर पर 365 दिनों के पक्के रोज़गार की गारण्टी दो, रोज़गार ना दे पाने की सूरत में 10,000 रूपये प्रतिमाह गुज़ारे योग्य बेरोज़गारी भत्ता दो।

– स्थायी प्रकृति के कामों में ठेका प्रथा को प्रतिबन्धित किया जाये।

– सभी घरेलू कामगार महिलओं को मज़दूर का दर्जा दिया जाये। सरकार द्वारा तय न्यूनतम मज़दूरी के दर से उन्हें भुगतान करवाना सुनिश्चित किया जाये। इनके लिए सामाजिक सुरक्षा के अधिकार जैसे पी.एफ़., इ.एस.आई., लेबर कार्ड आदि दिये जायें।

– दिहाड़ी मज़दूरों के लिए भी न्यूनतम मज़दूरी तय की जाये और उसी मज़दूरी पर भुगतान सुनिश्चित करवाया जाये। इसके अलावा उनके लिए भी पी.एफ़., ई.एस.आई., लेबर कार्ड आदि सुविधाएँ दी जायें।

रोज़गार से सम्बन्धित माँगों के अलावा इस मुहिम में एक मुख्य माँग आवश्यक वस्तु अधिनियम में बदलाव वाले अध्यादेश को वापस करने की भी थी। चूँकि यह अधिनियम जन विरोधी है और एक तरीक़े से खाद्यानों की जमाख़ोरी को क़ानूनी मान्यता देता है, इस आधिनियम से खाद्यान की क़ीमतें बढ़ेंगी, इसलिए इसे निरस्त करना, मेहनतकश जनता की माँग है।

क़रीब डेढ़ महीने तक इन माँगों को लेकर राजधानी के अलग-अलग इलाक़ों में प्रचार अभियान चलाया गया। मुख्य रूप से दिहाड़ी मज़दूरों, कामगार माहिलाओं और छात्रों-नौजवानों की आबादी के बीच यह अभियान चला। लेबर चौकों पर जाकर निर्माण मज़दूरों के बीच प्रचार अभियान चलाया गया व उनके लॉजों में जाकर संध्या मीटिंगें आयोजित की गयीं। प्रचार अभियान के दौरान मिली घरेलू महिला कामगारों के साथ भी मीटिंगें आयोजित की गयीं व इस अभियान से उन्हें परिचित काराया गया। पटना के वे इलाके जैसे बाज़ार समिति, भिखना पहाड़ी जहाँ प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने वाले छात्रों की बड़ी आबादी रहती है, वहाँ जाकर नुक्कड़ सभाएँ की गयीं व पर्चा वितरण किया गया। इसके अलावा बिहार के नालंदा, गया, जहानाबाद के कुछ गाँवों में यह अभियान चलाया गया।

बिहार पुलिस प्रशासन ने तानाशाही फ़रमान जारी करते हुए हाल ही में कहा है कि विरोध प्रदर्शन में शामिल होने वाले लोगों पर अगर चार्जशीट दायर होती है, तो उन्हें सरकारी नौकरियों के लिए अयोग्य करार दे दिया जायेगा। यह तानाशाहपूर्ण फ़रमान यह स्पष्ट करता है कि यह सरकार जनता में फैलते असंतोष से कितनी कितनी ज़्यादा डरी हुई है व जनता को अपने हक़ – अधिकार के लिए एकजुट होने से रोकने के लिए तमाम तिकड़में भिड़ा रही है परन्तु यह फ़रमान भी बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ बिहार की जनता की लामबंदी को नहीं रोक सकता है। नितीश सरकार ऐसे फ़रमानों से जनता की एकजुटता और उसकी ताक़त को तोड़ नहीं सकती!

महामारी और संकट के बीच करोड़ों लोगों की रोज़ी-रोटी छिनी मगर पूँजीपतियों के मुनाफ़े में हो गयी 13 लाख करोड़ की बढ़ोत्तरी!

– अनुपम

कोरोना महामारी की वजह से आजकल सभी काम-धन्धे बन्द हुए मालूम पड़ते हैं। लगभग हर गली-मोहल्ले में तो ही रोज़गार का अकाल ही पड़ा हुआ है। वहीं, दूसरी तरफ़, कोरोना काल में अम्बानी-अडानी आदि थैलीशाहों के चेहरे पहले से भी ज़्यादा खिले हुए हैं। करोड़ों-करोड़ का मुनाफ़ा खसोटकर वे अपनी महँगी पार्टियों में जश्न मना रहे हैं।

हाल ही में ऑक्सफ़ैम की एक रिपोर्ट में इन हालात पर कुछ आँकड़े पेश किये गये। रिपोर्ट के अनुसार, लॉकडाउन के बाद से जहाँ एक ओर देश के बड़े-बड़े धनपतियों ने अपना मुनाफ़ा कई-कई गुना बढ़ा लिया है वहीं दूसरी तरफ़, करोड़ों लोग नौकरियाँ छिनने के बाद से ग़रीबी के नरक में धकेल दिये गये हैं। मार्च से अब तक, जहाँ एक ओर देश के 100 बड़े धनपतियों की सम्पदा में 12,97,822 करोड़ का इज़ाफ़ा हुआ है, वहीं दूसरी ओर लॉकडाउन के बाद से अब तक 12.2 करोड़ लोगों का रोज़गार छिन गया है।

लॉकडाउन के दौरान, मुकेश अम्बानी ने हर घण्टे 90 करोड़ रुपये मुनाफ़ा कमाया, जबकि उन्हीं दिनों देश के क़रीब 24 प्रतिशत लोग हर महीने सिर्फ़ 3000 रुपये महीने कमा पा रहे थे। अकेले अम्बानी की दौलत में इस बीच जितना इज़ाफ़ा हुआ, केवल उसी को बाँट दिया जाये, तो देश के 40 करोड़ असंगठित मज़दूरों की ग़रीबी कम से कम 5 महीने के लिए दूर हो जायेगी। उसका हर घण्टे का मुनाफ़ा इतना था कि एक सामान्य मज़दूर को उतने पैसे कमाने में दस हज़ार साल लग जायेंगे।

वहीं, पिछले साल अप्रैल के महीने में ही हर घण्टे लगभग 1,70,000 लोग बेरोज़गार हो रहे थे। रिपोर्ट के ही अनुसार, लॉकडाउन में उसी दौरान 300 से भी अधिक लोग भूख, बीमारी, दुर्घटना या फिर पुलिस की बर्बरता के शिकार होकर मर गये। उस वक़्त भारतीय पुलिस ने भी बर्बरता की सारी हदें पार कर दी। भारतीय मानवाधिकार आयोग ने भी माना कि मानवाधिकार हनन के 2,582 मामले केवल अप्रैल के महीने में ही दर्ज किये गये थे।

लॉकडाउन के दौरान जब अचानक ही कोरोना से बचने के लिए घर में रहने का फ़रमान आम जनता को सुनाया गया तो उस समय देश की एक लगभग 18 करोड़ आबादी के पास घर था ही नहीं। जिनके पास था भी, उनमें से 59.6 प्रतिशत आबादी ऐसी थी जो केवल एक कमरे या उसके एक छोटे से हिस्से में परिवार सहित या साझेदारी में गुज़ारा करती थी। इस आबादी के लिए घरों में बन्द रहना जेलों में डाल दिये जाने की तरह कष्टदायक था। यह कल्पना करना ही बड़ा भयावह है कि उन लोगों कि क्या हालत हुई होगी जिनके घर किसी मलिन बस्ती में हैं। उनकी क्या हालत हुई होगी जिनके लिए घर के मायने केवल रात गुज़ारने के लिए एक छत जितने ही हैं। वे दिन में मई की गर्मियों के कैसे बन्द रहे होंगे जबकि उनके घर में हवा के आने-जाने तक का कोई इन्तज़ाम न रहा हो। या उनका क्या हुआ होगा, जिनके घर में नहाने और शौच जाने की कोई व्यवस्था नहीं है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इन घरों में कोविड के लिए दो गज़ की दूरी रखने की हिदायत एक भद्दा मज़ाक भर थी।

स्कूलों में ऑनलाइन माध्यम से क्लासों के शुरू किये जाने के बाद, मज़दूरों और ग़रीबों को ही सबसे अधिक दिक़्क़तों का सामना पड़ा। ऑक्सफ़ैम की हालिया रिपोर्ट के अनुसार, ग्रामीण इलाक़ों में बसे 4 प्रतिशत घरों में ही कम्प्यूटर है तो वहीं 15 प्रतिशत से भी कम घरों में इण्टरनेट कनेक्शन की सुविधा है। एक अन्य आँकड़े के अनुसार, देश की कुल छात्र आबादी में से केवल 24 प्रतिशत आबादी ही ऐसी है जिसके घर में इण्टरनेट की सुविधा है। और शहरों में बसे घरों में भी यह आँकड़ा 42 प्रतिशत तक जाता है।

ऐसे में, कुछ इन्साफ़पसन्द लोगों की मदद तथा मिलने वाली थोड़ी-बहुत सरकारी सहायता के बूते जैसे-तैसे वक़्त काट रही मज़दूर आबादी के लिए इस दौरान इण्टरनेट का ख़र्च उठाना लगभग नामुमकिन ही था। कुछ माँ-बाप ने अपने बच्चों की पढ़ाई आगे बढ़ाने के लिए कर्ज़ लेकर स्मार्टफ़ोन खरीदा जबकि अधिकतर इतने लाचार थे कि उन्हें अपने बच्चों की पढ़ाई ही छुड़वानी पड़ी।

ज़ाहिरा तौर पर, लॉकडाउन के दौरान बिना किसी तैयारी के ऑनलाइन माध्यम से शिक्षा दिया जाना मज़दूरों और ग़रीबों के बच्चों के साथ सीधा-सीधा पक्षपात था। वक़्त की ज़रूरत को ध्यान में रखकर सरकार द्वारा इन बच्चों के लिए ऐसे ऑनलाइन सेण्टरों की व्यवस्था करवायी जा सकती थी जहाँ आकर बच्चे पढ़ सकते। लेकिन बिहार में अपनी एक चुनावी रैली के लिए हज़ारों की संख्या में एलईडी स्क्रीन और फ़्लैटस्क्रीन टीवी लगवाने वाली इस सरकार के लिए एक ग़ैर-ज़रूरी काम थी। मुनाफ़ा कमाने का एक जरिया बन चुके स्कूलों-कालेजों को भी इससे कोई मतलब नहीं था कि बच्चे पढ़ पायेंगे या नहीं। उन्हें केवल इससे मतलब था कि उन्हें फ़ीस समय पर मिल जाये।

यह सब जिस समय हो रहा था, उस समय अम्बानी, अडानी, मित्तल, डालमिया और बिरला सहिता तमाम पूँजीपति घरानों की सम्पदा में ज़बरदस्त उछाल जारी था। तुलना के लिए ,अगर हम ऊपर के सबसे अमीर सौ धनपतियों की दौलत में इस दौरान आयी लगभग 13 लाख करोड़ की उछाल को देश की दौलत मान लें तो इस धनराशि से देश के निचले दस प्रतिशत, यानी 13.8 करोड़ सबसे ग़रीब लोगों में सभी को 94,045 रूपये दिये जा सकते हैं।

संकटकाल में आयी यह आर्थिक समृद्धि इतनी अधिक परजीवी है कि देश में जनस्वास्थ्य के लिए जैसे-तैसे चल रही 'जनऔषधि योजना' का बजट इसके सामने न के बराबर है। रिपोर्ट के अनुसार, अगर लॉकडाउन के दौरान देश के सबसे बड़े 11 पूँजीपतियों की बढ़ी हुई सम्पत्ति के ऊपर एक प्रतिशत भी टैक्स लगा दिया जाये और उससे मिली धनराशि को 'जनऔषधि योजना' में आवण्टित कर दिया जाये तो केवल इससे ही योजना का बजट बढ़कर वर्तमान बजट के मुक़ाबले 140 गुना हो जायेगा। इसी तरह अगर उनकी बढ़ी हुई सम्पत्ति को स्वास्थ्य विभाग या मनरेगा द्वारा ले लिया जाये तो उससे ही वे पूरे दस साल तक अपना ख़र्च चला सकते हैं।

रोज़ी-रोटी की कोई गारण्टी नहीं, पुलिस की मार का डर और बच्चों की पढ़ाई की चिन्ता। इन तमाम उलझनों के बीच दर-दर की ठोकरें खाती मज़दूर आबादी अभी तक लॉकडाउन जैसी परिस्थितियों में ही जीवनयापन कर रही है। वहीं दूसरी ओर, पूँजीपति वर्ग महामारी के दौरान जमकर मुनाफ़ा कमा रहा है। "आपदा के दौरान अवसर" निकाल लेने में "भारत" ने वाकई बाज़ी मार ली है।

क्या हिरासत में होने वाली यातनाओं को रोकने के लिए सीसीटीवी कैमरे पर्याप्त हैं ?

- वृषाली

हाल ही में सुप्रीम कोर्ट के एक बेंच ने देश भर के राष्ट्रीय जाँच एजेन्सी (एनआईए), केन्द्रीय जाँच ब्यूरो (सीबीआई), प्रवर्तन निदेशालय (ईडी), राजस्व ख़ुफिया निदेशालय (डीआरआई), नारकोटिक्स कण्ट्रोल ब्यूरो (एनसीबी) आदि जैसी सभी जाँच एजेंसियों के कार्यालयों में सीसीटीवी कैमरे लगाने का आदेश जारी किया है। कोर्ट का आदेश है कि इन कैमरों में नाइट विजन व रिकॉर्डिंग उपकरण भी लगे हुए हों। सुप्रीम कोर्ट का मानना है कि इस क़दम से हिरासत में होने वाले उत्पीड़न पर क़ाबू पाया जा सकेगा। यूँ तो पुलिस थानों में सीसीटीवी कैमरे लगाने का आदेश 2018 में ही जारी कर दिया गया था लेकिन असल सवाल यह है कि इन कैमरों से हिरासत में होने वाले उत्पीड़न पर क्या वाक़ई में क़ाबू कर पाना सम्भव है?

इस साल जून में तमिलनाडु के तूतीकोरिन ज़िले में पी. जयराज (59) व बेनिक्स (31) की पुलिस प्रताड़ना के बाद मौत की घटना को अभी ज़्यादा वक़्त नहीं गुज़रा है। इस घटना के बाद तमिलनाडु और दक्षिण भारत में लोगों का ग़ुस्सा उबाल पर था। लेकिन इस घटना में भी ज्यूडिशियल मजिस्ट्रेट की रिपोर्ट के अनुसार कोई सीसीटीवी फ़ुटेज उपलब्ध नहीं हो पाया क्योंकि थाने में लगे सीसीटीवी कैमरे का एकाउण्ट 'ऑटो-डिलीट' पर था। ज़ाहिरा तौर पर यह कोई अपवाद नहीं है, हिरासत में ऐसे उत्पीड़न, बलात्कार व यातनाओं के कई मामले गिनाये जा सकते हैं जिनकी सीसीटीवी फ़ुटेज नदारद हैं। लेकिन यह एक हालिया घटना ही सुप्रीम कोर्ट के इस फ़ैसले की सीमाओं को साफ़ करने के लिए काफ़ी है। इसके इतर इस नये आदेशानुसार आधिकारिक गिरफ़्तारी से पहले व थानों और कार्यालयों के बाहर होने वाली प्रताड़ना के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गयी है। यही नहीं, इस फ़ैसले में मानसिक व न नज़र आने वाले शारीरिक उत्पीड़न को भी नज़रअन्दाज़ किया गया है।

भारत में हिरासत में उत्पीड़न और मौत के आँकड़े

भारत में हर वर्ष पुलिस व न्यायिक हिरासत में सैकड़ों की संख्या में लोगों की मौतें हो रही हैं। जुलाई 2019 के दौरान भाजपा नीत एनडीए की मोदी सरकार द्वारा उपलब्ध कराये गये आँकड़ों के अनुसार ही पिछले तीन वर्षों में 4,476 लोगों की मौतें हिरासत के दौरान हुई हैं। इनमें से 427 लोगों की मृत्यु पुलिस हिरासत के दौरान तथा 4,049 लोगों की मौत न्यायिक हिरासत के दौरान हुई है। राष्ट्रीय मानवाधिकार संगठन के अनुसार साल 2019 में हिरासत में 1,723 मौतें दर्ज की गयी थीं जिनमें 1606 न्यायिक हिरासत व 117 पुलिस हिरासत में हुई थीं, यानी हर रोज़ तक़रीबन 5 मौतें। 2019 की एक रिपोर्ट के अनुसार नैशनल कैम्पेन अगेंस्ट टॉर्चर (एनसीएटी) द्वारा दर्ज 125 केसों में 93 लोगों की मौत पुलिस हिरासत में हुए प्रताड़ना की वजह से थी, व 24 लोगों की मौत संदेहास्पद स्थितियों में हुई थी। इनमें से 60% मामलों में क़ैदी ग़रीब या उपेक्षित तबक़ों से सम्बन्धित थे।

हिरासत में प्रताड़ना के असल कारण

1861 में औपनिवेशिक गुलामी के दौर में गठित भारतीय पुलिस व्यवस्था का मुख्य काम उस वक़्त जनता को दबाने-कुचलने का ही था। आज भी जारी पुलिसिया उत्पीड़न के विभिन्न रूपों का कारण इसका पुराना ढंग-ढर्रा है। उत्तर-औपनिवेशिक सत्ता के बाद भी उत्पीड़न और दमन का यह तंत्र बदस्तूर जारी है क्योंकि यह मौजूदा व्यवस्था के लिए लाभप्रद है। अमानवीय व्यवहार के लिए प्रशिक्षित अफ़सर थानों में अपना एकछत्र राज चलाते हैं। इसके लिए किसी क़ैदी से ज़ुर्म क़बूल करवाने, रिश्वत लेने, धाक जमाने आदि के लिए यातना देना पुलिसकर्मियों के बाएँ हाथ का खेल है।

छत्तीसगढ़ में सोनी सोरी का हिरासत में यौन उत्पीड़न करने वाले आईजी कल्लूरी को राष्ट्रपति मेडल मिल गया। छत्तीसगढ़ तो फिर भी दूर है। देश की राजधानी दिल्ली के सिंघू बॉर्डर से इसी जनवरी में मज़दूर कार्यकर्ता नवदीप कौर को पुलिस उठा ले गयी और हिरासत में उसे यौन प्रताड़ना दी गयी। घटना के बीस दिन बाद भी पुलिस ने उन्हें छोड़ा नहीं है।

जिस देश में हर दिन 5 लोग हिरासत में दम तोड़ दें, उस देश की पुलिसिया व्यवस्था सीसीटीवी कैमरों की बदौलत नहीं बदल सकती। सीसीटीवी कैमरों को भी मुलाज़िम ही संचालित करेंगे कोई बाहर से नहीं आयेगा। हिरासत में होने वाली मौतों पर लगाम लगाने के लिए सबसे ज़रूरी है पुलिसिया तंत्र का जनवादीकरण, जिसके लिए क़दम उठाना इस व्यवस्था को मंज़ूर नहीं है। इसलिए हिरासत में होने वाली मौतों को रोकने के लिए सीसीटीवी कैमरे नहीं बल्कि निरंकुश पुलिसिया तंत्र में सुधार और जनता के बेलगाम उत्पीड़न को प्रश्रय देने वाली क़ानूनी धाराओं को समाप्त करना ज़रूरी है।

दूसरा, हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मौजूदा व्यवस्था वर्गीय शोषण पर आधारित है। शोषित वर्ग के शोषण को बरक़रार रखने के लिए ही पुलिस, फ़ौज और न्याय का पूरा ढाँचा खड़ा किया गया है। बेशक दमन-उत्पीड़न की व्यवस्था का पूरा ख़ात्मा तो वर्ग समाज की समाप्ति के साथ ही हो सकता है। लेकिन पूँजीवाद भी जिन जनवादी हक़ों को देने की बात संविधान में करता है उन्हें वास्तव में लागू करवाने के लिए भी संघर्ष की ज़रूरत होती है और इसी प्रक्रिया में जनता के सामने व्यवस्था के सीमान्त भी बेपर्दा होते हैं। आज जनवादी अधिकारों के लिए एक व्यापक जन-आधारित आन्दोलन की ज़रूरत है, जो जाँच-पड़ताल रिपोर्टों और क़ानूनी सहायता से आगे बढ़कर लोगों में इन अधिकारों की चेतना पैदा करे और इनके लिए ज़मीनी संघर्ष संगठित करने के लिए भी काम करे।

क्या सारे किसानों के हित और माँगें एक हैं?

धनी फ़ार्मरों व कुलकों से अलग सीमान्त, छोटे और निम्न-मँझोले किसानों की क्या माँगें हैं?

– अभिनव

किसान कौन है? यह सबसे पहला बुनियादी सवाल है।

जब हमारे देश में सामन्ती जागीरदारी की व्यवस्था हावी थी, तब हर तरह के और टोटे-बड़े सभी किसानों का एक साझा दुश्मन था। खेतिहर मज़दूरों व बँधुआ मज़दूरों का भी वही साझा दुश्मन था। यह दुश्मन था सामन्ती ज़मीन्दार। सामन्ती ज़मीन्दार वह ज़मीन्दार होता है, जो कि आम किसान आबादी से लगान वसूल करता है, गाँव में उसके पास सरकार जैसी शक्ति होती है, वह सिर्फ़ आर्थिक तौर पर नहीं लूटता, बल्कि उसकी आर्थिक लूट उसके राजनीतिक दबदबे और चौधराहट पर पर ही टिकी होती है। वह अपनी अय्याशी और ऐशो-आराम के मुताबिक़ मनमाना लगान वसूलता था। वह अपनी ज़मीन पर बाज़ार के लिए और मुनाफ़े के लिए खेती नहीं करवाता था, बल्कि वह पूरी तरह से किसानों से वसूले जाने वाले लगान पर निर्भर करता था।

यह सामन्ती ज़मीन्दार धनी किसान, मँझोले किसान, ग़रीब किसान व काश्तकार, और खेतिहर मज़दूर सबको लूटता और दबाता था और इन सभी का साझा दुश्मन था।

1957 के बाद देश में पूँजीवादी सत्ता क़ायम होने के बाद कहने के लिए ज़मीन्दारी उन्मूलन क़ानून बना। लेकिन इसे कुछ बेहतर तरीके से जम्मू-कश्मीर और केरल में ही लागू किया गया; बाकी राज्यों में इसे बहुत ही गये-बीते तरीके से लागू किया गया और कुछ राज्यों में तो नाममात्र ही लागू किया गया। लेकिन खेती को पूँजीवादी रूप में ढालना भारत के नये हुक्मरानों, यानी नये औद्योगिक पूँजीपति वर्ग के लिए ज़रूरी था। नतीजतन, उनकी नुमाइन्दगी करने वाली नयी सरकार ने इन सामन्ती ज़मीन्दारों को ही पूँजीवादी ज़मीन्दार में तब्दील होने का मौका दिया।

पूँजीवादी ज़मीन्दार कौन होता है? पूँजीवादी ज़मीन्दार वह होता है, जो पूँजीवादी लगान वसूलता है। पूँजीवादी लगान क्या होता है? इस लगान को पूँजीवादी ज़मीन्दार अपने मन-मुआफिक नहीं तय कर सकता है। फिर यह लगान कैसे तय होता है? पूँजीवादी लगान तीन कारकों से तय होता है: पूरी अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की औसत दर, अलग-अलग ज़मीन के प्लाटों की उत्पादकता और मुनाफ़े की दर और खेती का एक ऐसे संसाधन पर निर्भर करना, जो कि कुदरती संसाधन है और सीमित है: यानी ज़मीन। ज़मीन किसी ने बनाई नहीं है। यह कुदरती संसाधन है। लेकिन यह सीमित मात्रा में है और यह पूँजीवादी ज़मीन्दारों के एक वर्ग की सम्पत्ति है। जैसे-जैसे भोजन व अन्य खेती उत्पादों की माँग बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे कम उपजाऊ ज़मीन पर खेती ज़रूरी बनती जाती है। इन खेती उत्पादों की माँग यह तय करती है कि सबसे ख़राब ज़मीन पर खेती करने वाले पूँजीवादी फ़ार्मर को भी औसत मुनाफ़े से अधिक मुनाफ़ा हो, वरना वह पूँजीवादी भूस्वामी से ज़मीन किराये पर लेकर खेती क्यों करेगा? अगर उसे औसत मुनाफ़ा ही मिल रहा है, और उसे उसमें से ज़मीन का किराया/लगान पूँजीवादी भूस्वामी को निकालकर देना है, तो वह अपनी पूँजी अर्थव्यवस्था में कहीं और लगायेगा, जहाँ उसे औसत मुनाफ़े की दर हासिल हो सके। इसलिए खेती में उत्पाद की कीमत सबसे ख़राब ज़मीन और सबसे ख़राब उत्पादन की स्थितियों से तय होती है और ख़राब से ख़राब ज़मीन को कुछ अतिरिक्त मुनाफ़ा तभी मिल सकता है, जबकि खेती में पैदा हो रहा समूचा मूल्य (यानी उत्पाद में बदल चुका श्रम) खेती के क्षेत्र में ही रहे, जो कि आम तौर पर अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों में मिल रहे औसत मुनाफ़े से ऊँचा ही होता है क्योंकि वहाँ पर खेती के मुक़ाबले मशीनें ज़्यादा होती हैं और प्रति इकाई मशीन मज़दूर कम होते हैं। नतीजतन, खेती में श्रम भी ज़्यादा सघन होता है और मूल्य भी ज़्यादा पैदा होता है। मतलब यह कि पूँजीवादी ज़मीन्दार भी अगर इतना लगान माँगेगा कि पूँजीवादी फ़ार्मर के पास औसत मुनाफ़े जितना भी न बचे तो पूँजीवादी फ़ार्मर अपनी पूँजी को किसी और क्षेत्र में लगाना पसन्द करेगा; और अगर पूँजीवादी फ़ार्मर खेती में पूरी अर्थव्यवस्था के औसत मुनाफ़े के ऊपर मिल रहे 'अतिरिक्त मुनाफ़े' को लगान के रूप में पूँजीवादी भूस्वामी के हवाले नहीं करता, तो पूँजीवादी भूस्वामी अपनी ज़मीन किराये पर पूँजीवादी फ़ार्मर को देगा ही नहीं।

खाद्यान्न व अन्य खेती उत्पादों की बढ़ती माँग और ज़मीन की सीमित मात्रा के कारण यह होता है कि पूँजीवादी फ़ार्मर ज़मीन किराये पर ले, औसत मुनाफ़ा अपने पास रखे और 'अतिरिक्त मुनाफ़ा' लगान के रूप में पूँजीवादी ज़मीन्दार के हवाले करे। यानी कि पूँजीवादी भूस्वामी मनमाना लगान नहीं ले सकता है और यह लगान बाज़ार के लिए उत्पादन, औसत मुनाफ़े की दर, खेती में उत्पादकता आदि कारकों से तय होती है। जहाँ पर पूँजीवादी फ़ार्मर ही स्वयं ज़मीन का मालिक होता है, वहाँ यह 'अतिरिक्त मुनाफ़ा' लगान के रूप में किसी पूँजीवादी ज़मीन्दार के पास नहीं जाता है, बल्कि उसकी जेब में जाता है। बहरहाल, यह होता है पूँजीवादी लगान, जो कि सामन्ती लगान से भिन्न होता है। जब एक बार खेती में पूँजीवादी लगान की शुरुआत हो जाती है, तो खेती में उत्पादन सम्बन्धों का चरित्र मूलत: और मुख्यत: पूँजीवादी बन जाता है और हमारे देश में कई दशकों पहले ऐसा हो चुका है।

पूँजीवाद का विकास हो जाने के बाद, खेती में भी बड़ी पूँजी छोटी पूँजी को निगलती है, खेतिहर मज़दूरों का शोषण करती है, उनके द्वारा पैदा बेशी मूल्य को मुनाफ़े के लिए हड़पती है।

पूँजीवादी फ़ार्मर (धनी किसान) कौन होता है? पूँजीवादी फ़ार्मर वह होता है जो कि पूँजी का निवेश करके खेती के उपकरणों, मशीनों, कच्चे माल आदि को खरीदता है, मज़दूरों की श्रमशक्ति को खरीदता है और बाज़ार के लिए उत्पादन करवाता है। मज़दूरों द्वारा पैदा बेशी मूल्य को वह मुनाफ़े के रूप में अपनी जेब के हवाले करता है, उसके एक हिस्से का उपभोग करता है और मुनाफ़े और बाज़ार की स्थितियाँ अच्छी होने पर उसे खेती में ही वापस लगाता है, या अन्य किसी क्षेत्र में निवेश कर देता है। अगर उसने ज़मीन किसी पूँजीवादी ज़मीन्दार से किराये पर ली है, तो वह खेती में औसत मुनाफ़े के ऊपर मिलने वाले बेशी मुनाफ़े को पूँजीवादी ज़मीन्दार को लगान के रूप में देता है और अगर ज़मीन उसकी अपनी होती है, तो यह बेशी मुनाफ़ा भी उसकी जेब में जाता है। जिन्हें हम भारत में धनी किसान और उच्च मध्यम किसान कहते हैं, वह यही पूँजीवादी कुलक-फ़ार्मर है। ये आम तौर पर वे किसान हैं, जिनके पास 4 हेक्टेयर (लगभग 10 एकड़) या उससे अधिक ज़मीन है। हालाँकि देश के अलग-अलग राज्यों की स्थितियों में कुछ अन्तर भी है, लेकिन देश के पैमाने में फ़िलहाल इस औसत से काम चलाया जा सकता है।

इसके बाद, ऐसे किसानों का वर्ग आता है जिनके पास इतनी पूँजी (और अक्सर इतनी ज़मीन भी) नहीं होती कि वे उजरती मज़दूरों को काम पर रखें, बड़े पैमाने पर मशीनें, उपकरण, उन्नत बीज, खाद, व खेती में लगने वाली दूसतरी चीज़ें ख़रीदें। यह बिरले ही दो-चार मज़दूरों को काम पर रखते हैं और आम तौर पर अपने और अपने पारिवारिक श्रम से खेती करते हैं। इनके पास, अपनी ज़रूरतों के बाद बहुत ज़्यादा उपज नहीं बचती और वह थोड़ी ही उपज सरकारी मण्डियों में बेच पाते हैं। अक्सर वे स्थानीय धनी किसान, आढ़तियों, बिचौलियों को ही ये उपज कम दामों में बेच देते हैं क्योंकि उनके पास इस उपज को रखने की सुविधा भी नहीं होती और उधार आदि चुकाने के लिए तुरन्त पैसों की ज़रूरत होती है। चूँकि ये किसान ज़्यादातर मामलों में धनी किसानों, कुलकों, सूदखोरों, आढ़तियों आदि (जो कि अक्सर एक ही व्यक्ति होता है!) के कर्ज़ तले दबे होते हैं और दर्जनों प्रकार के आर्थिक बन्धनों के ज़रिये उन पर निर्भर होते हैं, इसलिए भी कम दाम पर अपनी अतिरिक्त उपज इन धनी किसानों-कुलकों के हवाले करना इनकी मजबूरी होती है। किसानों के इस हिस्से को हम निम्न-मँझोला किसान वर्ग कहते हैं। ये किसान अक्सर धनी किसानों-कुलकों के लिए ठेका खेती भी करते हैं। इस व्यवस्था में एमएसपी से नीचे तय किये गये दाम पर ये धनी किसानों-कुलकों के लिए धान या गेहूँ उगाते हैं और उन्हें बेचते हैं। कई बार ये ज़मीन भी इन्हीं धनी किसानों-कुलकों से किराये पर लेते हैं। ज़्यादातर मामलों में खेती के लिए चालू पूँजी भी सूद पर इन निम्न मँझोले किसानों को कुलकों-धनी किसानों से ही मिलती है और फिर अन्त में अपनी उपज को एमएसपी (और बाज़ार दर) से कम दाम पर ये इन्हीं धनी किसानों-कुलकों को बेचते हैं। धनी किसान-कुलक केवल कॉरपोरेट कम्पनियों के ठेका खेती में घुसने के ख़िलाफ़ हैं, न कि आम तौर पर ठेका खेती के। क्योंकि वे ख़ुद ग़रीब किसानों से ठेका खेती करवाते हैं।

यानी कि ये धनी किसान-कुलक, निम्न-मँझोले किसान को पूँजीवादी ज़मीन्दार के रूप में लगान लेकर, सूदख़ोर के रूप में ब्याज लेकर, पूँजीवादी फ़ार्मर के रूप में मुनाफ़ा लेकर और साथ ही आढ़ती-बिचौलिये के रूप में कमीशन लेकर लूटते हैं। इन निम्न-मँझोले मालिक किसानों व काश्तकारों, दोनों के पास इतना भी नहीं बचता कि वे अपने घर का नियमित ख़र्च चला सकें। नतीजतन, इन्हीं के घरों से लोग प्रवासी मज़दूर बनकर दूसरे गाँवों में या शहरों में जाते हैं, ताकि घर की अर्थव्यवस्था चल सके।

इन निम्न मँझोले किसानों को पंजाब और हरियाणा में सरकारी मण्डियों तक काफ़ी हद तक पहुँच हासिल है, क्योंकि वहाँ सरकारी मण्डियों का नेटवर्क बाकी देश से कहीं बेहतर है। लेकिन चूँकि उनके पास बेचने योग्य उपज की मात्रा बहुत बड़ी नहीं होती है और चूँकि साल भर में वे जितना अनाज एमएसपी पर बेचते हैं, उससे ज़्यादा ख़रीदते हैं, इसलिए उन्हें एमएसपी बढ़ने का कोई फ़ायदा नहीं बल्कि नुक़सान होता है। मध्यप्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, तेलंगाना व केरल में भी कुछ निम्न मँझोले किसानों की एमएसपी तक पहुँच है, लेकिन पंजाब व हरियाणा के मुक़ाबले कम। और बाकी राज्यों में तो एमएसपी और सरकारी मण्डियों तक उनकी पहुँच नगण्य है। लेकिन जिन मामलों में एमएसपी व सरकारी मण्डियों तक उनकी पहुँच है भी, वहाँ भी एमएसपी का उन्हें नुक़सान ज़्यादा होता है, क्योंकि वे मुख्य रूप से खेती उत्पाद के ख़रीदार हैं, विक्रेता नहीं।

इसके बाद उन किसानों का वर्ग आता है जिन्हें हम सीमान्त व छोटा किसान, या सीधे ग़रीब किसान व अर्द्धसर्वहारा कह सकते हैं। यह वह किसान है जो कभी उजरती श्रम का शोषण नहीं करता है, बल्कि अपने और अपने पारिवारिक श्रम से ही खेती करता है और उससे उसकी बुनियादी ज़रूरतें भी पूरी नहीं होती हैं। ऐसे किसान देश की कुल किसान आबादी का 92 प्रतिशत हैं। उनके पास 2 हेक्टेयर (लगभग 5 एकड़) से भी कम ज़मीन है और अपनी खेती ही नहीं बल्कि रोज़ाना की घरेलू ज़रूरतों के लिए भी ये कर्ज़ लेने को मजबूर होते हैं। ये चाहें तो भी कभी एमएसपी का फ़ायदा नहीं उठा सकते हैं। देशभर के आँकड़ों के मुताबिक़ इनकी पारिवारिक आय का केवल 15 प्रतिशत खेती से आता है। अब आप स्वयं ही समझ लें कि ये कितना उत्पाद कहीं भी बेच पाते हैं, सरकारी मण्डी तो दूर की बात है। इनकी गृहस्थी मूलत: मज़दूरी से चलती है क्योंकि इनकी पारिवारिक आय का 85 फीसदी मज़दूरी से ही आता है। इन ग़रीब और सीमान्त किसानों का शोषण पूँजीवादी फ़ार्मर और भूस्वामी ही करते हैं और गाँव में रहने वाला कोई भी व्यक्ति इस सच्चाई को जानता है, चाहे कोई इससे कितना भी मुँह क्यों न मोड़े।

सबसे निचले संस्तर पर है खेतिहर मज़दूर वर्ग। गाँवों में अब खेतिहर मज़दूरों की संख्या कुल किसान आबादी (जिसमें सीमान्त, छोटे व निम्न मँझोले किसान भी शामिल हैं) से ज़्यादा है। 2011 में ही भारत की खेती में लगी आबादी में से 14.5 करोड़ खेतिहर मज़दूर थे, जबकि किसानों की संख्या 11.8 करोड़ रह गयी थी। पिछले 10 वर्षों में यदि किसानों के मज़दूर बनने की की दर वही रही हो, जो कि 2000 से 2010 के बीच थी, तो माना जा सकता है कि खेतिहर मज़दूरों की संख्या 15 करोड़ से काफ़ी ऊपर जा चुकी होगी, जबकि किसानों की संख्या 11 करोड़ से और कम रह गयी होगी। इस खेतिहर मज़दूर आबादी का क़रीब आधा हिस्सा दलित आबादी से आता है। इनके शोषण को अतिशोषण में तब्दील करने में इनकी जातिगत स्थिति का भी एक योगदान है। पंजाब

(पेज 9 पर जारी)

क्या सारे किसानों के हित और माँगें एक हैं?

(पेज 8 से आगे)

और हरियाणा वे प्रदेश हैं, जहाँ दलित आबादी कुल आबादी का 25 प्रतिशत से भी ज़्यादा है। यदि प्रवासी मज़दूरों को छोड़ दें, तो पंजाब और हरियाणा के गाँवों में खेतिहर मज़दूरी करने का काम मुख्यतया यही आबादी करती है।

पंजाब और हरियाणा में जब लॉकडाउन के दौरान प्रवासी मज़दूरों का आना रुक गया था, तो मज़दूरी बढ़ने लगी थी क्योंकि श्रम की माँग बढ़ रही थी। ऐसे में, पंजाब और हरियाणा के धनी किसानों-कुलकों ने अपनी पंचायतें और खापें बुलाकर खेतिहर मज़दूरी पर एक सीलिंग फिक्स की थी। किसी भी मज़दूर को उससे ज़्यादा मज़दूरी नहीं दी जा सकती थी। यदि कोई माँगता तो उसका सामाजिक बहिष्कार होता। इन मज़दूरों को अपने गाँव से बाहर जाकर मज़दूरी करने की भी इजाज़त नहीं थी। जहाँ तक बिहार, उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, छत्तीसगढ़, झारखण्ड आदि से पंजाब और हरियाणा में जाने वाले प्रवासी मज़दूरों की बात है, उनके शोषण और उत्पीड़न में भी धनी किसानों-कुलकों का वर्ग कोई कसर नहीं छोड़ता है।

ये हैं खेती में लगे वर्गों का एक विवरण: पूँजीवादी भूस्वामी, पूँजीवादी फ़ार्मर (मालिक व किरायेदार), निम्न मँझोला किसान, सीमान्त व छोटे किसान, और खेतिहर मज़दूर। इसके बाद आढ़तियों व व्यापारियों का वर्ग भी है, जिनकी भूमिका कम-से-कम पंजाब में ज़्यादातर स्वयं पूँजीवादी भूस्वामी व पूँजीवादी फ़ार्मर ही निभाते हैं।

क्या इन वर्गों के एक हित हो सकते हैं?

जब तक सामन्तवाद था और सामन्ती भूस्वामी वर्ग था, तब तक धनी किसान, उच्च मध्यम किसान, निम्न मध्यम किसान, ग़रीब किसान व खेतिहर मज़दूर का एक साझा दुश्मन था। आज निम्न मँझोले किसानों, ग़रीब किसानों व खेतिहर मज़दूरों के वर्ग का प्रमुख शोषक और उत्पीड़क कौन है? वे हैं गाँव के पूँजीवादी भूस्वामी, पूँजीवादी फ़ार्मर, सूदख़ोर और आढ़तियों-बिचौलियों का पूरा वर्ग। इस शोषक वर्ग की माँगें और हित बिल्कुल अलग हैं और गाँव के ग़रीबों की माँगें और हित बिल्कुल भिन्न हैं।

इसलिए जब आपसे कोई "किसान के हित" की बात करे, तो सबसे पहले पूछिए: कौन-सा किसान? उजरती श्रम का शोषण करके, लगान वसूलकर, सूद लूटकर ग़रीब और निम्न मँझोले किसानों को निचोड़ने वाला धनी किसान व कुलक? या फिर 92 प्रतिशत वे किसान जिनकी आय का 50 प्रतिशत से भी ज़्यादा अब मज़दूरी से आता है, न कि खेती से? इन दोनों की माँगें एक कैसे हो सकती हैं? इसलिए हम मज़दूरों और ग़रीब किसानों को सबसे पहले यह समझ लेना चाहिए कि किसान कोई एक वर्ग नहीं हैं। ये स्वयं कई वर्गों में बंटा हुआ समुदाय है जिनके अलग-अलग

(पेज 10 पर जारी)

धनी फ़ार्मरों व कुलकों से अलग सीमान्त, छोटे और निम्न-मँझोले किसानों की क्या माँगें हैं?

धनी किसानों की माँगें और ग़रीब किसानों की माँगें एक नहीं हैं।

फिर सवाल यह है कि सीमान्त, छोटे और निम्न-मँझोले किसानों, यानी ग़रीब किसानों व अर्द्धसर्वहारा की अलग माँगें क्या हैं?

सबसे पहले हम विशिष्ट माँगों की बातें करेंगे।

विशिष्ट माँगों में सबसे प्रमुख यह है कि खेती को दी जाने वाली सब्सिडी का बड़ा हिस्सा खेती में बुनियादी ढाँचा बनाने पर ख़र्च किया जाय, जिसका सभी ग़रीब किसान इस्तेमाल करते हैं, न कि लाभकारी मूल्य के लिए, जिसका लाभ केवल 6 प्रतिशत धनी फ़ार्मरों को मिलता है। मिसाल के तौर पर, सभी ग़रीब किसान सिंचाई के लिए मॉनसून व नहरों के नेटवर्क पर निर्भर करते हैं। जिनके पास ये सुविधाएँ नहीं होतीं, वे धनी किसानों से पंपसेटों आदि के ज़रिए सिंचाई की सुविधा किराये पर लेते हैं और इसमें भी लूटे जाते हैं।

1980 के दशक की शुरुआत से पहले कृषि सब्सिडी का बड़ा हिस्सा एमएसपी पर नहीं बल्कि नहरों आदि के निर्माण पर ख़र्च किया जाता था। 1980 के दशक में कुलक-धनी किसानों के राजनीतिक नेतृत्व के दबाव में भारतीय राज्य ने लाभकारी मूल्य पर ख़रीद पर ख़र्च को लगातार बढ़ाया, जबकि खेती के बुनियादी ढाँचे पर ख़र्च कम होता गया। वह पहले भी अपर्याप्त था, लेकिन बाद में यह बहुत ही कम होता गया। इसका सबसे बुरा असर ग़रीब किसानों पर पड़ा।

पूँजीवादी फ़्रेमवर्क में ग़रीब किसानों की एक दूसरी महत्वपूर्ण विशिष्ट माँग यह बनती है कि ग़रीब से ग़रीब किसान की संस्थागत ऋण तक पहुँच हो, यह राज्य की जिम्मेदारी है। ग़रीब किसानों को बैंकों आदि से ऋण न मिलने के कारण, वे खेती में आवश्यक चालू पूँजी के लिए भी धनी किसानों-कुलकों पर निर्भर रहते हैं। ये ऋण बेहद अन्यायपूर्ण ब्याज दरों पर दिये जाते हैं। ग़रीब किसानों की भारी आबादी के ज़मीन से उजड़ने और आत्महत्याओं के लिए भी ये अन्यायपूर्ण ऋण जिम्मेदार हैं। आज संस्थागत ऋण 30 प्रतिशत से भी कम किसानों को मिलता है और उसमें भी ज़्यादा लाभ सबसे ऊपर के 10 प्रतिशत किसानों को मिलता है। जब कोई कर्ज़-माफ़ी भी होती है, तो उसका बड़ा लाभ भी इन्हीं धनी किसानों को मिलता है। लेकिन क्या आपने कभी सुना है कि सूदख़ोरी करने वाले गाँव के किसी धनी किसान, कुलक या आढ़तिये ने ग़रीब किसानों व अर्द्धसर्वहारा के लिए कर्ज़-माफ़ी की हो?

एक अन्य महत्वपूर्ण माँग यह है कि सरकार धनी किसानों व आम तौर पर सभी धनी वर्गों पर प्रगतिशील कर लगाये और उसके आधार पर समूची किसान आबादी को उचित दरों पर सरकारी माध्यम से बीज, खाद आदि उपलब्ध कराये, वैज्ञानिक खेती के लिए सरकारी प्रशिक्षण सुनिश्चित करे। पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में ये माँगें ग़रीब व निम्न मँझोले किसानों की महत्वपूर्ण माँगें हैं और उन्हें तात्कालिक तौर पर सहायता पहुँचाती हैं। हमने यहाँ प्रगतिशील कर प्रणाली की माँग इसलिए जोड़ी है क्योंकि उसके बिना यदि खेती की लागतों का मूल्य कम करने की माँग उठायी जाती है, तो वह व्यापक सर्वहारा वर्ग के ख़िलाफ़ जाती है। सरकार खेती की लागतों के उत्पादन में लगी मज़दूर आबादी की वास्तविक औसत मज़दूरी को कम किये बिना उपरोक्त कार्य तभी कर सकती है, जब वह धनी किसानों-कुलकों, पूँजीपतियों के पूरे वर्ग पर प्रगतिशील कर लगाये।

इन विशिष्ट माँगों के अलावा छोटे, सीमान्त व निम्न मँझोले किसानों की एक आम माँग है जो कि खेतिहर व शहरी मज़दूरों के साथ साझा है: रोज़गार गारण्टी की माँग। 2012-13 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण में ही आधे किसानों ने कहा था कि छोटी जोत की खेती का कोई भविष्य नहीं है और वह पहला मौका मिलते खेती छोड़ देना चाहते हैं। लेकिन पक्की और सरकारी नौकरी के बिना वह खेती छोड़ भी नहीं पा रहे हैं।

यह सच है कि भारत में उत्पादकता के स्तर के अनुसार अच्छी-ख़ासी खेतिहर आबादी की खेती में कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है, लेकिन वह प्रच्छन्न बेरोज़गारी, अर्द्धभुखमरी और ऋण के हालात में उसी में जीती रहती है क्योंकि उसके पास और कोई विकल्प नहीं है। नतीजतन, एक भारी ग़रीब किसान आबादी के लिए रोज़गार गारण्टी एक महत्वपूर्ण अधिकार है और उसकी माँग बनती है कि राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून पारित कराया जाय और 'काम के हक़' को क़ानूनी तौर पर बाध्यताकारी बनाने के लिए लड़ा जाये।

एक अन्य महत्वपूर्ण आम माँग जो कि ग़रीब किसानों की माँग भी है और समस्त मज़दूर वर्ग की माँग भी है, वह है सार्वभौमिक सार्वजनिक वितरण प्रणाली की माँग। भारत में सीमान्त व ग़रीब किसान परिवारों की औसत मासिक आय अक्सर मज़दूरों की औसत आय से भी कम है। कहने को वे एक छोटी सी जोत के मालिक हैं, लेकिन यह छोटी जोत की खेती उन्हें कुछ देती नहीं है, बस पीती जाती है। उनके घरों से कुछ प्रवासी मज़दूर बाहर काम करके कमाकर कुछ घर भेजते भी हैं, तो वह खेती और कर्ज़ में चला जाता है। ऐसे में, ये परिवार भयंकर खाद्य असुरक्षा में भी जीते हैं। सार्वभौमिक सार्वजनिक वितरण प्रणाली उनकी एक अहम आम माँग बनती है।

इन सभी माँगों का ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों के बीच प्रचार किया जाना चाहिए और उन्हें इन पर धनी फ़ार्मरों व कुलकों से स्वंतत्र तौर पर संगठित किया जाना चाहिए। लेकिन साथ ही उन्हें यह भी बताया जाना चाहिए कि पूँजीवादी व्यवस्था के रहते यदि ये माँगें पूरी हो जायें तो भी वे ज़्यादा से ज़्यादा कुछ तात्कालिक राहत ही दे सकती हैं और जिस हद तक वे ऐसा कर सकती हैं, उसके संघर्ष में हम कम्युनिस्ट बिना शर्त आपके साथ हैं, आपको

(पेज 10 पर जारी)

ग्रामीण मज़दूरों से सम्बन्धित विशिष्ट माँगें

(i) असंगठित मज़दूरों का सबसे बड़ा हिस्सा ग्रामीण क्षेत्र में रहता है और कृषि, कृषि-आधारित उद्योगों व सहायक या सम्बद्ध (एलायड) उद्योगों में, ग्रामीण क्षेत्रों में होने वाले सार्वजनिक कार्यों एवं 'मनरेगा' जैसी योजनाओं के अन्तर्गत कराये जाने वाले कामों में काम करता है। इस विशाल मेहनतकश आबादी के लिए पूरे देश में समरूप श्रम क़ानून का नितान्त अभाव है। न्यूनतम मज़दूरी, काम के घण्टे और सामाजिक सुरक्षा के कुछ क़ानून यदि काग़ज़ पर मौजूद भी हैं तो उनका कोई पालन नहीं होता। हम माँग करते हैं कि 'खेतिहर मज़दूरों और ग्रामीण श्रमिकों पर राष्ट्रीय आयोग' (नेशनल कमीशन ऑन एग्रीकल्चरल वर्कर्स ऐण्ड रूरल लेबर) की रिपोर्ट की सिफ़ारिशों के हिसाब से खेत मज़दूरों और सभी ग्रामीण मज़दूरों के लिए व्यापक, सांगोपांग क़ानून बनाने का वर्षों पुराना वायदा केन्द्र सरकार यथाशीघ्र पूरा करे। इस क़ानून के द्वारा गाँव के सभी मज़दूरों को वेतन, काम के घण्टे, काम की परिस्थितियों और सामाजिक सुरक्षा विषयक वे सभी अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की जायें जो शहरी असंगठित मज़दूरों के विभिन्न हिस्सों को हासिल हों।

(ii) कुछ राज्य सरकारें धनी किसानों-फ़ार्मरों और ग्रामीण अभिजात वर्ग के दबाव के चलते ऐसे किसी भी क़ानून का विरोध करती रही हैं। कुछ इसे अव्यावहारिक बताती रही हैं जबकि केरल में पहले से ही ऐसा एक क़ानून लागू है (हालाँकि वह नाकाफ़ी है और उसके अमल में भी काफ़ी कमियाँ हैं)। हम माँग करते हैं कि केन्द्र सरकार ग्रामीण मज़दूरों विषयक व्यापक क़ानून यथाशीघ्र संसद में पेश करे और आवश्यक संविधान संशोधन के द्वारा राज्य सरकारों को राज्यों के स्तर पर ऐसा क़ानून बनाने और उसे अमल में लाने के लिए बाध्य करे।

(iii) खेत मज़दूरों तथा सभी श्रेणियों के ग्रामीण मज़दूरों के पंजीकरण, न्यूनतम मज़दूरी, पेंशन, पी.एफ., ई.एस.आई., सहित हर प्रकार की सामाजिक सुरक्षा, काम के निर्धारित घण्टे, आवास आदि सुविधाएँ सुनिश्चित करने के लिए श्रम विभाग में केन्द्र और राज्यों के स्तर पर अलग से, ऊपर से नीचे तक प्रकोष्ठ स्थापित किया जाये अथवा ग्रामीण मज़दूरों विषयक श्रम क़ानूनों के अमल की निगरानी, तथा विवादों के निपटारे के लिए वार्ताओं एवं मध्यस्थता आदि के लिए अलग से विभाग बनाया जाये।

(iv) ग्रामीण मज़दूरों के श्रम अधिकारों के प्रभावी अमल के लिए ज़िले से लेकर ब्लॉक स्तर तक 'इंस्पेक्टोरेट' का गठन किया जाये जिसमें श्रम निरीक्षकों के साथ ही ग्रामीण मज़दूरों के प्रतिनिधि, भूस्वामियों और ग्रामीण उद्योगों के प्रतिनिधि तथा लोक अधिकार कर्मी शामिल हों। श्रम क़ानूनों के अमल की निगरानी के लिए नियमित निरीक्षण एवं रिपोर्ट देना अनिवार्य हो। उन रिपोर्टों पर कार्रवाई डी.एल.सी. स्तर के अधिकारी द्वारा अनिवार्य होनी चाहिए।

(v) (क) ग्रामीण मज़दूरों के लिए विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं के लिए ज़िला स्तर पर एक 'ग्रामीण मज़दूर कल्याण कोष' की स्थापना की जाये जिसके लिए धन मुख्यत: भूस्वामियों और विभिन्न ग्रामीण उद्योगों के मालिकों और कॉण्ट्रैक्टरों के योगदान से जुटाया जाये। इस मद में धन का एक भाग सरकार भी दे तथा एक छोटा हिस्सा ग्रामीण मज़दूरों के योगदान से जुटाया जाये। भूस्वामियों से प्रति एकड़ भूमि पर या प्रति कुन्तल उत्पादन पर सेस या विशेष लेवी लगाकर तथा उद्योग स्वामियों पर उत्पादकता की दृष्टि से सेस या विशेष लेवी लगाकर कल्याण कोष के लिए धन जुटाया जाये। (ख) सितम्बर 2001 में कृषि मज़दूरों की सामाजिक सुरक्षा के लिए शुरू की गयी 'कृषि श्रमिक सामाजिक सुरक्षा योजना' अपने उद्देश्य में विफल रही है और एक काग़ज़ी शिगूफ़ा बनकर रह गयी है। इसे प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए आवश्यक धन का इन्तज़ाम, अमल में लाने वाली एजेंसी की ज़िम्मेदारी-जवाबदेही का

(पेज 10 पर जारी)

क्या सारे किसानों के हित और माँगें एक हैं?

(पेज 9 से आगे)

हित और अलग-अलग माँगें हैं। एक शोषक है, तो दूसरा शोषित है।

देश के कुल किसानों में से केवल 6 प्रतिशत को लाभकारी मूल्य का लाभ मिलता है। बेशक यह प्रतिशत अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग है। पंजाब और हरियाणा में और एक हद तक (अगर गेहूँ की बात की जाय) तो मध्यप्रदेश में यह प्रतिशत ज़्यादा है। लेकिन पंजाब में भी एक-तिहाई किसानों के पास 2 हेक्टेयर तक ही ज़मीन है। वहाँ भी ग़रीब व सीमान्त किसानों के वर्ग को लाभकारी मूल्य का फ़ायदा इसलिए नहीं मिलता क्योंकि वे प्रमुख रूप से अनाज के ख़रीदार हैं, विक्रेता नहीं। पंजाब के खेतिहर मज़दूरों को इसका कोई लाभ नहीं मिलता बल्कि नुक़सान होता है। प्रवासी मज़दूरों को भी इसका नुक़सान ही होता है क्योंकि उनके लिए अनाज और खेती पर आधारित दूसरी चीज़ें महँगी हो जाती हैं।

इसका लाभ मुख्य तौर पर सबसे बड़े व उच्च मध्यम किसानों को होता है, जो पंजाब में कुल किसान आबादी का क़रीब एक-तिहाई हैं। पंजाब में कुलक, धनी किसान व उच्च मध्यम किसानों का घनत्व कुल किसान आबादी में देश के मुक़ाबले ज़्यादा है। इसकी वजह यह है कि 'हरित क्रान्ति' के दौरान पूँजीवादी धनी किसानों के एक पूरे वर्ग को राजकीय संरक्षण और समर्थन के साथ खड़ा करने का काम यहीं किया गया था। दूसरे नम्बर पर इस मामले में हरियाणा आता है। एमएसपी पर होने वाली कुल ख़रीद का क़रीब 70 फीसदी इन्हीं दो राज्यों से आता है। यानी लाभकारी मूल्य के रूप में कृत्रिम रूप से ऊँची मुनाफ़ा दर यहीं के धनी किसानों-कुलकों के वर्ग को दी जा रही है और सरकारी ख़रीद भी सबसे ज़्यादा इन्हीं दो राज्यों से हो रही है।

लाभकारी मूल्य या एमएसपी क्या होता है? सरकार का एक आयोग है जिसे कृषि लागत व मूल्य आयोग कहा जाता है। यह आयोग नियमित अन्तराल पर कृषि की व्यापक लागत तय करता है जिसमें खेती में लगने वाले यंत्र, उपकरण, खाद, बीज, लेबर के ख़र्च को जोड़ा जाता है, फिर किसान के परिवार के सदस्यों के श्रम (धनी किसान के लिए यह बोनस है क्योंकि उसके परिवार के लोग खेत पर काम नहीं करते हैं) के दाम को जोड़ा जाता है, ब्याज को जोड़ा जाता है और लगान को भी जोड़ा जाता है (हालाँकि भारत में अधिकांश मामलों में ज़मीन के मालिक स्वयं पूँजीवादी धनी किसान ही हैं)। इसे सम्पूर्ण या व्यापक लागत कहा जाता है और सरकार इसके ऊपर 30 से 50 फीसदी ऊँचे सरकारी दाम, यानी एमएसपी तय करती रही है। यानी, लागत के ऊपर 30 से 50 प्रतिशत तक का मुनाफ़ा।

इस ऊँचे सरकारी दाम के कारण कम-से-कम धान, गेहूँ, कपास, मक्का और कुछ दलहनों की बाज़ार कीमतें भी ऊँची हो जाती हैं। ये वे चीज़ें हैं जिन्हें व्यापक आबादी नियमित रूप से खान-पान के लिए इस्तेमाल करती है। नतीजतन, भोजन पर व्यापक आबादी का ख़र्च बढ़ता है, उनके पोषण का स्तर गिरता है, अन्य आवश्यक वस्तुओं पर ख़र्च कम होता है और कुल मिलाकर उनका जीवन-स्तर नीचे चला जाता है।

इसके साथ ही, एमएसपी बढ़ने से सार्वजनिक वितरण प्रणाली को भी लाभ नहीं बल्कि नुक़सान होता है। भारत में खाद्यान्न का भारी रिज़र्व भण्डार होने के बावजूद अच्छी-ख़ासी आबादी के भूखा रहने का यह भी कारण है कि एमएसपी पर सरकारी ख़रीद के बाद सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली के ज़रिये ज़रूरतमन्दों तक इसे पहुँचाने के बजाय उसे पूँजीपतियों को बेचना पसन्द करती है। इसके अलावा, एमएसपी के कारण बाज़ार कीमतें भी बढ़ जाती हैं और जमाख़ोरी इसमें और इज़ाफ़ा कर देती है।

इसलिए, लाभकारी मूल्य या एमएसपी सीधे-सीधे आम शहरी व ग्रामीण मज़दूरों, शहरी निम्न मध्यवर्ग और साथ ही सीमान्त, छोटे व निम्न मँझोले किसानों के हितों के विरुद्ध है। लाभकारी मूल्य की माँग मूलत: और मुख्यत: धनी किसानों-कुलकों और उच्च मध्यम किसानों की ही माँग है। यह तथ्य है। लेकिन तमाम कम्युनिस्ट इस सच्चाई से मुँह मोड़े खड़े हैं, क्योंकि उन्हें धनी किसानों-कुलकों के आन्दोलन में जगह पानी है और उसके नेतृत्व की पूँछ पकड़कर घिसटना है। इसके लिए व्यापक मेहनतकश आबादी के हितों को तिलांजलि देने से भी उन्हें गुरेज़ नहीं है।

धनी फ़ार्मरों व कुलकों से अलग सीमान्त, छोटे और निम्न-मँझोले किसानों की क्या माँगें हैं?

(पेज 9 से आगे)

संगठित करने और आपकी अगुवाई के लिए तैयार हैं।

लेकिन सच्चाई यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था के रहते ग़रीब व निम्न मँझोले किसान अनन्त काल तक अपनी छोटी जोत की खेती को बचाये रखने की उम्मीद नहीं रख सकते हैं। सामूहिक व सहकारी खेती और समाजवादी राजकीय खेती की व्यवस्था के तहत ही वे एक वर्ग के तौर पर अपनी ज़मीन को पूँजीपतियों के हाथों में जाने से बचा सकते हैं, जैसा कि लेनिन ने अपनी शानदार पुस्तिका 'गाँव के ग़रीबों से' में लिखा है। इसलिए इन तात्कालिक माँगों के लिए धनी किसानों व कुलकों तथा कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग दोनों से ही संघर्ष करते हुए हमें अपने दूरगामी लक्ष्य, यानी समाजवाद के लक्ष्य को कभी नहीं भूलना चाहिए। केवल एक समाजवादी व्यवस्था में ही ग़रीब व निम्न मँझोले किसानों व खेतिहर मज़दूरों को बेहतर जीवन, स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक व आर्थिक सुरक्षा और निश्चितता मिल सकती है। यदि क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट उपरोक्त अल्पकालिक राहत देने वाली माँगों पर ग़रीब किसानों व निम्न मध्यम किसानों को संगठित करते हुए उन्हें यह सच्चाई नहीं बताते और समाजवाद के लिए दूरगामी संघर्ष के लिए संगठित नहीं करते, तो वे उनके साथ धोखा करेंगे।

बहरहाल, ये वे माँगें हैं जो कि पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में तात्कालिक तौर पर व्यापक सीमान्त, छोटी और निम्न-मँझोली किसान आबादी की विशिष्ट और आम माँगें हैं। क्या मौजूदा धनी किसान आन्दोलन इन माँगों को उठायेगा? नहीं! क्योंकि उसके हित और माँगें बिल्कुल अलग हैं। यहाँ भी हम देख सकते हैं कि मौजूदा धनी किसान आन्दोलन का चार्टर और उसकी माँगों का वर्ग चरित्र क्या है। यह स्पष्ट रूप से धनी किसानों-कुलकों का आन्दोलन है। हम 'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंकों में पहले ही विस्तार से लिख चुके हैं कि ग़रीब व निम्न-मँझोले किसानों की एक अच्छी-ख़ासी संख्या भी किस प्रकार राजनीतिक चेतना की कमी, विविध प्रकार के आर्थिक बन्धनों में धनी फ़ार्मरों-कुलकों से बँधे होने के कारण, और कोई स्वतंत्र मज़बूत राजनीतिक संगठन न होने के कारण किस प्रकार धनी फ़ार्मरों के इस आन्दोलन में भागीदारी कर रही है। लेकिन इससे इस धनी फ़ार्मर आन्दोलन का वर्ग चरित्र तय नहीं होता है। किसी भी आन्दोलन का वर्ग चरित्र उसकी विचारधारा, राजनीति और वर्ग चरित्र से तय होता है।

ग्रामीण मज़दूरों से सम्बन्धित विशिष्ट माँगें

(पेज 9 से आगे)

सटीक निर्धारण तथा कृषि मज़दूरों की पहचान करके उनका पंजीकरण करना ज़रूरी है। इस योजना का विस्तार करके इसमें सभी ग्रामीण मज़दूरों को शामिल किया जाये और इसके तथा सामाजिक सुरक्षा विषयक अन्य क़ानूनी प्रावधानों पर अमल के लिए एक ग्रामीण मज़दूर कल्याण बोर्ड की स्थापना राज्य स्तर पर की जाये जिसकी शाखाएँ नीचे ब्लॉक स्तर तक हों।

(vi) पी.एफ़. और ई.एस.आई. स्कीम के दायरे में सभी ग्रामीण मज़दूरों को शामिल किया जाये। इसके लिए धन मुख्यत: नियोक्ताओं से लिया जाये तथा एक हिस्सा सरकार दे। मज़दूरों से सिर्फ़ टोकन धनराशि ली जाये।

(vii) ग्रामीण क्षेत्र के सभी मज़दूरों के लिए ट्रेड यूनियन बनाने और पंजीकरण की प्रक्रिया सुगम एवं पारदर्शी बनायी जाये। इसका हर सम्भव प्रबन्ध किया जाये कि वे अपने क़ानूनी हितों-अधिकारों के लिए सामूहिक सौदेबाज़ी कर सकें और क़ानूनी लड़ाई लड़कर लम्बे अदालती जंजाल में उलझे बिना न्याय पा सकें। (इसके लिए समुचित व्यवस्था की माँग बिन्दु 21-22 में श्रम विभाग एवं श्रम न्यायालय के पुनर्गठन और लोकतांत्रीकरण से जुड़े उपशीर्षकों के अन्तर्गत की गयी है।)

(viii) 'अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन' के अनुसार, पूरी दुनिया में खेती के कामों में उद्योगों से भी अधिक जानलेवा दुर्घटनाएँ होती हैं। खेत मज़दूरों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा विषयक 'अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन' के कन्वेंशन (2001) के प्रावधानों को खेत मज़दूरों और सभी ग्रामीण मज़दूरों के स्वास्थ्य और सुरक्षा से सम्बन्धित व्यापक एवं सांगोपांग क़ानून बनाते समय उसमें शामिल किया जाये।

(विभिन्न यूनियनों और मज़दूर संगठनों की ओर से सरकार को दिये गये भारत के मज़दूरों का माँगपत्रक, 2011' से। 'बिगुल मज़दूर दस्ता' भी इस पहल का हिस्सा है।)

किसान आन्दोलन में भागीदारी को लेकर ग्राम पंचायतों और जातीय पंचायतों का ग़ैर-जनवादी रवैया

अपनी आर्थिक माँगों के लिए विरोध करना हरेक नागरिक, संगठन और यूनियन का जनवादी हक़ है। बेशक लोगों के जनवादी हक़ों को कुचलने के सत्ता के हर प्रयास का विरोध भी किया जाना चाहिए। इसी प्रकार किसी मुद्दे पर असहमति रखना और विरोध न करना भी हरेक नागरिक और समूह का जनवादी हक़ है। इस हक़ को कुचलने के भी हरेक प्रयास को अस्वीकार किया जाना चाहिए और इसके लिए दबाव बनाने के हर प्रयत्न का विरोध किया जाना चाहिए।

पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तरप्रदेश के गाँवों में ग्राम पंचायतों और जातीय पंचायतों के द्वारा कई जगहों पर ग़ैर जनवादी फ़ैसले लिये जा रहे हैं। उदाहरण के लिए पंजाब के ज़िले भठिण्डा के कलावला गाँव की पंचायत ने यह निर्णय लिया है कि गाँव के हरेक परिवार को नम्बरवार घर का एक-एक सदस्य सप्ताह भर के लिए दिल्ली-हरियाणा सीमाओं पर चल रहे किसान आन्दोलन स्थलों पर भेजना होगा। जो परिवार घर का सदस्य नहीं भेजना चाहते या नहीं भेज सकते उन्हें इसकी एवज़ में जुर्माने के तौर पर 2100 रुपये भरने होंगे। जातीय पंचायतें और तथाकथित खाप पंचायतें तो हुक्का पानी बन्द करने के रूप में असहमतियों और कमजोर तबकों के हितों को गाहे-बगाहे दबाती ही रहती हैं और लोग इनका अपने तरीके से विरोध भी करते रहे हैं। लेकिन लोकतांत्रिक निकायों का ही ऐसा रवैया होगा तो फिर उनमें और खाप पंचायतों में फ़र्क ही क्या रह जायेगा? अपनी मर्ज़ी से कोई चाहे अपने घर के हरेक सदस्य को धरनों पर भेज दे या लाखों रुपये की आर्थिक मदद दे दे इससे किसी को क्या ही एतराज़ हो सकता है, लेकिन गाँव में कुछ लोग ऐसे भी हो सकते हैं जो आन्दोलन की माँगों से ही सहमत ना हों या फ़िर उनके अनुसार आन्दोलन की माँगों का उनके हितों से कोई सरोकार ही न हो।

इस पूरे मामले में यदि पंचायतें अपने फ़ैसलों को लागू कराने हेतु दबाव बनाती हैं तो उसका सबसे बड़ा ख़ामियाजा गाँव की श्रमिक आबादी, जिनमें ज़्यादातर दलित हैं, को भुगतना पड़ेगा। गाँव में दलित श्रमिक आबादी के बीच बहुत से परिवार इतने ग़रीब होते हैं कि बिना मज़दूरी करे शाम को चूल्हा जलने के भी लाले पड़ जाते हैं और उनकी आर्थिक हालत 2100 क्या 21 रुपये देने तक की भी नहीं। लेकिन इससे भी बुनियादी बात है कि अगर कोई पारिवारिक सदस्यों को भेजने अथवा जुर्माना भरने की स्थिति में हो भी इस तरह के फैसले ग़ैर-लोकतांत्रिक ही कहे जायेंगे।

ये घटनाएँ लॉकडाउन के दौरान हुई घटित घटनाओं की याद ताज़ा कर देती है जब कई गाँवों में पंचायतों ने ऐसे फ़ैसले दिये थे कि ग्रामीण खेतिहर मज़दूरों को पंचायत की तय मज़दूरी से ज़्यादा कोई नहीं देगा और मज़दूर अगर बेहतर मज़दूरी के लिए कहीं बाहर जाकर काम करेंगे तो उनका सामाजिक बहिष्कार किया जायेगा। इसमें कोई हैरानी की बात नहीं है क्योंकि ज़्यादातर पंचायतें गाँव की धनी किसान आबादी के आर्थिक हितों की ही नुमाइन्दगी करती हैं और पूँजीवादी सत्ता के सबसे निचले खम्भों का काम करती हैं।

– बिगुल संवाददाता

जनता के पैसे से खड़े सरकारी उपक्रमों को कौड़ियों के मोल पूँजीपतियों को बेचने की अन्धाधुन्ध मुहिम

– पराग वर्मा

वित्त मंत्री निर्मला सीतारमन ने वर्ष 2021-22 के बजट में सार्वजनिक संसाधनों की अन्धाधुन्ध नीलामी की योजना पेश की है। महँगाई और बेरोज़गारी से त्रस्त आम जनता को राहत देने के लिए बजट में कुछ भी ठोस नहीं है। बदहाल अर्थव्यवस्था और ऊपर से कोरोना की मार झेल रही जनता को राहत देने वाली कुछ बची-खुची सरकारी योजनाओं के लिए बजट बढ़ाने के बजाय इनके लिए आवंटित राशि में पिछले वर्ष की तुलना में भारी कटौती की गयी है।

सरकार का वित्तीय घाटा इस वर्ष बढ़ कर जीडीपी का 9.5% हो चुका है और उसकी पूर्ति करने के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों को बेचकर इस साल 1.75 लाख करोड़ रुपये जुटाने का लक्ष्य रखा गया है । सरकार ने 2 सरकारी बैंकों और जनरल इंश्योरेंस कम्पनी में अपनी पूरी हिस्सेदारी बेचने का निर्णय लिया है । इसके साथ ही आईडीबीआई बैंक का भी निजीकरण होगा और भारतीय जीवन बीमा निगम (एलआईसी) को भी निजी हाथों में दे दिया जायेगा। आईडीबीआई बैंक में सरकार अपनी पूरी हिस्सेदारी बेच देगी और एलआईसी का पब्लिक ऑफ़र जारी किया जायेगा जिसके द्वारा भारत की सबसे बड़ी बीमा कम्पनी को शेयर मार्केट में दर्ज कराया जायेगा और फिर सरकार इस कम्पनी में से कुछ हिस्सेदारी बेचकर अपने वित्तीय घाटे को भरेगी।

केन्द्र सरकार ने विनिवेश के ज़रिए वर्ष 2020-21 में 2.10 लाख करोड़ रुपये जुटाने का लक्ष्य निर्धारित किया था लेकिन कोरोना के कारण सरकार अब तक केवल 36.5 हज़ार करोड़ रुपये ही जुटा पायी। लेकिन कई सार्वजनिक उपक्रमों को बेचने की प्रक्रिया जो पिछले वर्ष शुरू हो चुकी थी, वह इस वित्त वर्ष में पूरी हो जायेगी। एयर इंडिया और बीपीसीएल को बेचने की प्रक्रिया निर्णायक दौर में है और वे जल्द ही बेच दिये जायेंगे। इसके अलावा शिपिंग कॉर्पोरेशन, कंटेनर कॉर्पोरेशन, भारत अर्थ मूवर्स, पवन हंस, राष्ट्रीय इस्पात लिमिटेड और नीलांचल इस्पात लिमिटेड भी मौजूदा वर्ष में बेच दिये जायेंगे। सरकार को उम्मीद है की इन सभी सरकारी उपक्रमों का निजीकरण 2021-22 में पूरा हो जायेगा। इससे लगभग 75 हज़ार करोड़ रुपये की आय सरकार को होगी। इसके अलावा सरकारी बैंकों और बीमा कम्पनियों के निजीकरण से सरकार को लगभग एक लाख करोड़ की आय होगी जिससे सरकार का मौजूदा वर्ष के लिए निजीकरण द्वारा 1.75 लाख करोड़ जुटाने का लक्ष्य पूर्ण होगा।

पूँजीपति वर्ग के दीर्घकालीन मुनाफ़े को ध्यान में रखते हुए वित्त मंत्री ने कहा कि 4 रणनीतिक क्षेत्रों के उपक्रमों में से कुछ महत्त्वपूर्ण उपक्रमों को छोड़कर सभी सरकारी उपक्रमों में सरकार अपनी पूरी हिस्सेदारी बेच देगी। उन्होंने नीति आयोग से इन सभी सरकारी उपक्रमों की लिस्ट बनाने को कहा है जिनमें सरकार भविष्य में अपनी हिस्सेदारी बेचेगी।

बजट में विनिवेश के साथ मुद्रीकरण की प्रक्रिया का भी उल्लेख किया गया है जिसके माध्यम से सरकार सार्वजनिक संस्थाओं की सम्पत्ति के कुछ हिस्सों को पूँजीपतियों को बेचने की योजना बना चुकी है। मुद्रीकरण के लिए चिह्नित सम्पत्तियाँ जो बेचीं जायेंगी उनमें होंगे नेशनल हाईवे अथॉरिटी की टोल वाली सड़कें, पावर ग्रिड कारपोरेशन की ट्रांसमिशन ग्रिड संपत्ति, गैस अथॉरिटी ऑफ़ इंडिया, ऑयल कॉरपोरेशन, एचपीसीएल जैसी तेल कम्पनियों की गैस और तेल पाइपलाइनें, रेलवे के माल ढुलाई कॉरिडोर, एयरपोर्ट अथॉरिटी ऑफ़ इंडिया के एयरपोर्ट (6 एयरपोर्ट नीलामी द्वारा पहले ही अडानी ग्रुप को दिये जा चुके हैं), सरकारी उपक्रमों के गोदाम, खेल स्टेडियम और सरकारी संस्थाओं की अधिशेष ज़मीनें।

बजट में बीमा के क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ़डीआई) को 49% से बढ़ा कर 74% कर दिया गया है । इसका मतलब है कि जब भारतीय जीवन बीमा निगम और अन्य जनरल बीमा कंपनियों का निजीकरण होगा तो उसमें विदेशी वित्तीय पूँजी भी सबसे अधिक हिस्सेदारी ले सकती है। भारतीय जीवन बीमा निगम में भारत की 40 करोड़ आम आबादी के पैसे इस विश्वास के साथ जमा होते रहे हैं कि विकट परिस्थितियों में वह उनके काम आयेंगे। लम्बे समय से सरकार की नज़र भारतीय जीवन बीमा निगम में जमा आम जनता के इस विशाल धन पर रही है। भारतीय जीवन बीमा निगम में जमा आम बीमा धारकों की पूँजी के इस्तेमाल से ही सरकार ने आईएलएफ़एस जैसी नॉन बैंकिंग फ़ायनेंशियल कम्पनी को और डूबते हुए आईडीबीआई बैंक को बचाने के प्रयास पिछले कुछ सालों में किये थे । पिछले कुछ सालों में सभी बैंकों के एन.पी.ए में बढ़ोत्तरी हुई है क्योंकि पूँजीपतियों ने बैंकों से बड़े बड़े क़र्ज़ लिये और चुकाये नहीं। इसी कारणवश नान बैंकिंग फायनेंशियल कंपनियों का डूबना, यस बैंक और बैंक ऑफ़ महाराष्ट्र जैसे कई प्राइवेट और कोआपरेटिव बैंकों का दीवालिया हो जाना लगातार चलता रहा है । बैंकों को हुए इन घाटों की भरपाई सरकार ने पूँजीपतियों से ना करके अक्सर बैंकों के लिए बेल आउट पैकेज देकर या भारतीय जीवन बीमा निगम जैसी सार्वजनिक संस्था द्वारा उनमें निवेश करवा कर किया है । इसका मतलब पूँजीपतियों के निजी ऋण के कारण डूबती वित्तीय संस्थाओं के नुक़सान की सार्वजनिक पूँजी द्वारा भरपाई की गयी है ।

भारतीय जीवन बीमा निगम कैश रिच कम्पनी है जो सरकार को लगातार लाभांश भी देती रही है । भारतीय जीवन बीमा निगम की पूँजी को इस तरह घाटे में चलती फाइनेंशियल कम्पनियों में लगाने के बाद अब सरकार ने वित्तीय घाटे की पूर्ति के लिए भारतीय जीवन बीमा निगम को ही विदेशी बाज़ार के हवाले करने का निर्णय ले लिया है। सार्वजनिक बीमा कम्पनी होने के कारण भारतीय जीवन बीमा निगम 1956 के क़ानून द्वारा संचालित होती रही है। इस क़ानून के मुताबिक़ ही भारतीय जीवन बीमा निगम कम्पनी के मुनाफ़े को बोनस के रूप में सभी पालिसी धारकों के साथ साझा करती रही है। ज़ाहिर सी बात है ऐसी कम्पनी जिसमें मुनाफ़े पर शेयर धारकों का पूर्ण अधिकार नहीं होगा उसका बाज़ार मूल्यांकन भी कम ही होगा और इसलिए भारतीय जीवन बीमा निगम में विनिवेश के पहले सरकार 1956 के क़ानून में बदलाव भी करेगी। आने वाले समय में यदि सरकार एलआईसी को पूरी तरह बेच देती है तो उस पर पूर्ण नियंत्रण बहुसंख्यक शेयरधारकों अर्थात बड़े देशी-विदेशी पूँजीपतियों का होगा । शेयर बाज़ार की दुनिया में आये दिन उतार-चढ़ाव आते हैं, कभी अन्दरूनी वजहों से तो कभी वैश्विक वजहों से। ऐसी सूरत में क्या गारण्टी है कि 40 करोड़ आबादी द्वारा जमा निधि को डुबाया नहीं जायेगा ।

पिछले साल ही दस सरकारी बैंकों का विलय करके चार बड़े बैंक बनाये गये। बड़े सार्वजनिक बैंक बनाने से एनपीए होने के बावजूद उनकी पूँजीपतियों को क़र्ज़ देने की क्षमता बढ़ जाती है। इसी लिए यह कदम उठाया गया था। अब सरकार ने कुल 12 सार्वजनिक बैंकों में से दो बैंकों को बेचने की घोषणा कर दी गयी है। ये दो बैंक कौन से होंगे इसकी घोषणा अभी तक नहीं हुई है। पर सरकार के इस कदम को पिछले वर्ष जब आरबीआई ने कॉरपोरेट घरानों को बैंक खोलने की अनुमति दे दी थी, उसकी निरन्तरता में देखना चाहिए। इसके अनुसार कॉरपोरेट घराने अब बैंकिंग लाइसेंस लेकर स्वयं ही बैंकों के मालिक भी हो सकते हैं । इसका मतलब है वित्तीय पूँजी के लिए बैंक से क़र्ज़ लेना और फिर ना चुकाने की सूरत में क़ानूनी दावपेंच में उलझने से पूँजीपति वर्ग को मुक्त कर दिया गया है। अब वे खुद के बैंकों द्वारा जनता से पूँजी जुटा सकते हैं तथा अपने अन्य कारोबार में इस्तेमाल कर सकते हैं। खुद के ही बैंक से लिये क़र्ज़ पर ऋण की दर और चुकाने का समय स्वयं निश्चित कर सकते हैं और क़र्ज़ ना भी चुकाया तो अपनी पब्लिक लिमिटेड कम्पनी को दीवालिया घोषित कर कम्पनी के घाटे को सार्वजनिक घोषित कर देंगे। एक के बाद एक प्राइवेट और कोआपरेटिव बैंकों के डूबने के बावजूद सरकार ने दो बैंकों को निजी हाथों में सौंपने का निर्णय ले लिया है। इन बैंकों में जो आम जनता की जमा पूँजी है उसे अब पूँजीपति वर्ग अपने निजी इस्तेमाल में ला सकता है और डुबा भी सकता है ।

वर्ष 2017 के बाद से कारोबार करने की आज़ादी के नाम पर भाजपा सरकार ने पूँजीपतियों को कभी एक्साइज़ ड्यूटी में छूट दी, कभी ऋण की दरों को आसान किया, कभी कर्ज़ों को बट्टे खाते में डलवाकर माफ़ किया तो कभी कॉरपोरेट टैक्स में भारी छूट प्रदान की। पूँजीपतियों को दी हुई इन सभी छूटों के कारण सरकार की राजस्व आय कम हुई है। **इस साल कोरोना महामारी के दौरान भी बड़े पूँजीपतियों की सम्पत्ति में 35% की बढ़ोत्तरी हुई मगर इसके बावजूद बजट में कॉरपोरेट टैक्स और कैपिटल गेन टैक्स में कोई बढ़ोत्तरी नहीं की गयी है।** राजस्व में आयी कमी को कॉरपोरेट घरानों से टैक्स लेकर पूरा करने की जगह सरकार सार्वजनिक सम्पत्ति को बेचकर घोटे की भरपाई कर रही है।

मौजूदा वर्ष का सकल टैक्स राजस्व 10.26 लाख करोड़ था जो कि पिछले साल से 12.6% कम है। इस राजस्व घाटे की पूर्ति के लिए कोरोना काल में भी मुनाफ़ा कमा रहे पूँजीपतियों से टैक्स लेने की जगह पेट्रोल और डीज़ल पर एक्साइज़ ड्यूटी बढ़ा दी गयी। पेट्रोल और डीजल पर एक्साइज़ ड्यूटी 47% तक बढ़ायी गयी जिसका सीधा बोझ आम जनता पर आया। यदि पेट्रोल और डीज़ल से प्राप्त एक्साइज़ ड्यूटी नहीं बढ़ायी जाती तो पिछले साल की तुलना में राजस्व में कमी 12.6% की जगह 20% तक होती।

सवाल यह है कि सरकार के लिए उपलब्ध आय कम क्यों पड़ रही है? क्या सरकार को आम जनता के लिए ख़र्च करने के लिए और अधिक आय चाहिए? नहीं, इसके विपरीत **सरकार ने उन सभी योजनाओं में आवंटन कम किया है जो आम जनता को सीधे लाभ पहुँचाती हैं।** मौजूदा सरकार को अपने लिये हुए क़र्ज़ के ऋण के रूप में 6 ट्रिलियन रुपये तक सालाना चुकाना पड़ता है जो कि कुल राजस्व का 38% है। अधिकांश देशों में ऋण और आय का अनुपात 8-10 प्रतिशत ही रहता है। इसके अलावा सरकार के अन्य ख़र्चे जैसे मंत्रियों के लिए विदेशी विमान, चुनावी रैलियाँ, मंत्रियों के विदेशी दौरे और सरकारी प्रचार तंत्र का रखरखाव भी बहुत ख़र्चीला है। सरकार के घोषित ख़र्चे भी मुख्यतः पूँजीपतियों के लिए मुनाफ़े के अवसर प्रदान करने की दिशा में हैं मगर आम जनता के लिए शिक्षा के बजट में कटौती की गयी है। बेरोज़गारी की दर मई महीने में 24% तक पहुँच गयी थी। आँकड़े बताते हैं कि जिन लोगों की नौकरी अप्रैल और मई महीने के दौरान चली गयी थी उनमें से 20% लोगों को अभी भी नौकरी नहीं मिली है। लाखों लोगों की आय कम हो गयी है और करोड़ों लोग ठेके पर कार्यरत हैं। इन हालातों में भी सरकार ने बजट में कोई भी कदम ऐसा नहीं उठाया है जो बहुसंख्यक मज़दूर आबादी को कोई भी राहत पहुँचाए। आत्मनिर्भरता का जुमला उछलते हुए विदेशी पूँजी के लिए रास्ते खोले गये हैं।

मौजूदा बजट में भविष्य में होने वाली नीतियों कि भी झलक देखने मिल सकती है। जहाँ एक तरफ़ दो बैंकों को निजी हाथों में सौंपा जा रहा है वहीं एक डेवलपमेंटल बैंक और एक "बैड बैंक" की स्थापना की बात भी की गयी है। इसका मकसद है मौजूदा बैंकों के हिसाब में दर्ज एनपीए को पूँजीपतियों द्वारा बिना चुकाए साफ़ करके बैड बैंक में डालना और पूँजीपतियों को फिर से नये क़र्ज़ देने के लिए डेवलपमेंट बैंक जैसी संस्थाएँ निर्मित करना। इसी तरह रेलवे के माल ढुलाई कॉरिडोर और कंटेनर कारपोरेशन के निजीकरण के साथ ही यात्री ट्रेन संचालन घाटे में जाने लगेगा क्योंकि अभी माल ढुलाई की क्रॉस सब्सिडी के कारण ही कम किराये में ट्रेन चल पाती है। इनके अलग होने के साथ ही यात्री ट्रेन को भी निजी हाथों में सौंपने का केस तैयार हो जायेगा। अभी भी 51 रेल रूट को निजी पूँजीपतियों को सौंपने की नीति बन चुकी है। बजट में कहा गया कि पब्लिक प्राइवेट पार्टनरशिप द्वारा 7 बन्दरगाह संचालित किये जायेंगे पर अन्ततः जिस प्रकार पहले ही 12 पोर्ट अडानी ग्रुप के पास जा चुके हैं, ये 7 भी अडानी ग्रुप के पास ही चले जायेंगे। अडानी ग्रुप के पास 2 जहाज़ भी हैं और इसलिए बजट में शिपिंग कंपनियों के लिए सब्सिडी की भी घोषणा की गयी है।

नेपाल में राजनीतिक-संवैधानिक संकट

संशोधनवाद का भद्दा बुर्जुआ रूप खुलकर सबके सामने है!

– आनन्द

नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी (नेकपा) के भीतर के.पी. शर्मा ओली और पुष्प कमल दाहाल (प्रचण्ड) के धड़ों के बीच महीनों से सत्ता पर क़ब्ज़े के लिए चल रही कुत्ताघसीटी की परिणति पिछले साल 20 दिसम्बर को ओली द्वारा नेपाल की संसद के निचले सदन प्रतिनिधि सभा को भंग करने की अनुशंसा और के रूप में हुई। राष्ट्रपति विद्या भण्डारी ने बिना किसी देरी के प्रतिनिधि सभा को भंग करने के फैसले पर मुहर लगा दी। आगामी 30 अप्रैल व 10 मई को मध्यावधि चुनावों की घोषणा भी कर दी गयी है। उसके बाद से ओली ने लगभग सभी संवैधानिक पदों और संस्थाओं में अपने आदमी नियुक्त करके राज्य सत्ता पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया है। उधर नेकपा के भीतर प्रचण्ड गुट, जिसका 446 सदस्यों वाली केन्द्रीय कमेटी और 9 सदस्यों वाले सचिवालय में दो-तिहाई से ज़्यादा बहुमत था, ने ओली को पार्टी से निष्कासित कर दिया है। उधर ओली ने भी अपने धड़े को ही असली नेकपा घोषित कर किया है।

नेपाल की राजनीति में अस्थिरता, अनिश्चितता और संकट का लम्बा इतिहास रहा है। पिछले 30 वर्षों में वहाँ 25 बार सरकारें बदलीं और 14 बार प्रधानमंत्री बदले हैं। लेकिन राजशाही के पतन के बाद अस्तित्व में आये नये संविधान के बाद लोगों ने राजनीतिक स्थिरता और समृद्धि की जो उम्मीदें लगायी थी उसपर पानी फिरता नज़र आ रहा है। तमाम विश्लेषक ओली के अभूतपूर्व क़दम पर हैरानी जता रहे हैं और प्रचण्ड की ओर उम्मीद भरी निगाहों से देख रहे हैं। परन्तु वे इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ कर रहे हैं कि आज नेपाल में जो राजनीतिक हालात बने हैं उसके लिए ओली की सत्तालोलुपता के अलावा प्रचण्ड की अवसरवादी व्यवहारवादी राजनीति भी काफ़ी हद तक ज़िम्मेदार है।

पिछले पूरे साल ओली और प्रचण्ड गुट के बीच सत्ता हथियाने को लेकर उठापठक चलती रही। कोरोना महामारी की वजह से पहले से ही संकट से जूझ रही नेपाल की जनता के लिए सत्ताधारियों के बीच कुर्सी को लेकर चल रही यह खींचतान जले पर नमक छिड़कने के समान थी। मई के महीने में भारत और नेपाल के बीच उठे कालापानी-लिपुलेख-लिम्पियाधुरा विवाद में ओली ने आक्रामक तेवर दिखाकर अपनी गिरती हुई साख़ बचाने की कोशिश की थी, लेकिन जब ओली को यह स्पष्ट हो गया कि धार्मिक बिम्बों से लैस राष्ट्रवाद की ख़ुराक़ भी की उनकी कुर्सी बचा नहीं पायेगी तो उन्होंने प्रतिनिधि सभा भंग करने का नया पैंतरा चला है। ग़ौरतलब है कि ओली और प्रचण्ड धड़े के बीच यह अलिखित समझौता हुआ था कि 5 साल की सरकार में ढाई साल ओली प्रधानमंत्री रहेंगे और ढाई साल प्रचण्ड। लेकिन प्रचण्ड की पारी आने से पहले ही ओली ने सत्ता की बागडोर पूरी तरह से अपने हाथ में ले ली है। संसद भंग करने के फैसले पर नेपाल के उच्चतम न्यायालय का फैसला इसी महीने आने वाला है। लेकिन इतना तो तय है कि सत्ता के नशे में मदमस्त ओली आने वाले दिनों में आपातकाल लगाने जैसे निरंकुश क़दम उठाने से नहीं चूकेंगे।

ग़ौरतलब है कि ओली ने प्रधानमंत्री बनने के बाद से ही निरंकुश फैसले लेने शुरू कर दिये थे। 2019 में ही ओली सरकार ने लोगों की बोलने व अभिव्यक्ति की आज़ादी और मीडिया पर नियंत्रण करने से सम्बन्धित विधेयक प्रस्तुत किये थे। यानी पूत के पाँव पालने में ही देखे जा सकते थे। नेपाल के राजनीतिक हलकों में ओली की निरंकुशता और और ओली और प्रचण्ड के गुटों के बीच सत्ता को लेकर चली खींचतान की तो आलोचना होती रही है लेकिन अभी भी जनयुद्ध के बाद के दौर में हुए राजनीतिक घटनाक्रम और भटकावों की मार्क्सवादी नज़रिये से व्याख्या का अभाव दिखता है। 'मज़दूर बिगुल' के पन्नों पर हम पहले भी लिखते रहे हैं कि जनयुद्ध के बाद नेपाल में हुए राजनीतिक पतन के लिए महज़ चन्द व्यक्तियों के राजनीतिक चरित्र में आए पतन और कुछ नेताओं के निरंकुश और भ्रष्ट आचरण को ज़िम्मेदार ठहराना पर्याप्त नहीं है। नेपाल में चल रही फूहड़ राजनीतिक नौटंकी के बाद अब इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं बचती कि नेपाली क्रान्ति विच्युति, विचलन, भटकाव और गतिरोध की फिसलन पर आगे बढ़कर विपर्यय और विघटन के गड्ढे में जा पहुँची है। किसी भी सच्चे मार्क्सवादी के लिए यह निर्मम आलोचना का विषय होना चाहिए कि आख़िर ऐसी त्रासदपूर्ण स्थिति पैदा ही क्यों हुई?

नेपाली क्रान्ति पटरी से उसी समय उतरने लगी थी जब प्रचण्ड ने सर्वहारा राज्यसत्ता के 'ऑर्गन' के तौर पर सोवियत प्रणाली के बरक्स बहुदलीय प्रतिस्पर्द्धात्मक जनवादी प्रणाली का मॉडल पेश किया था। समाजवादी संक्रमण, 20वीं सदी के समाजवादी देशों में पूँजीवादी पुनर्स्थापना पर अपनी मौलिक प्रस्थापना देते हुए यह समझ प्रस्तुत की गयी थी कि समाजवादी देशों में पूँजीवादी पुनर्स्थापना इसलिए हुई क्योंकि वहाँ

(पेज 13 पर जारी)

केन्द्रीय बजट : आँकड़ों में हेरफेर करके पूँजीपरस्त नीतियों पर जनपक्षधरता का मुलम्मा चढ़ाने का हास्यास्पद प्रयास

(पेज 1 से आगे)

क्षेत्र के उपक्रमों के निजीकरण की रफ़्तार तेज़ करके की जायेगी। वित्तमंत्री ने आगामी 3 सालों में सरकार की निजीकरण की योजना की रूपरेखा प्रस्तुत करके पूँजीपतियों के सामने अपनी प्रतिबद्धता का ऐलान किया। यही वजह थी कि पूँजीपतियों के लग्गू-भग्गू अर्थशास्त्री और विश्लेषक टीवी स्टूडियो में बैठकर सरकार की पीठ थपथपाते नहीं थक रहे थे।

वित्तीय वर्ष 2021-22 में सार्वजनिक उपक्रमों में सरकार के शेयर और सरकारी सम्पत्तियों को निजी कम्पनियों को बेचकर 1.75 लाख करोड़ रुपये इकट्ठा करने का संकल्प लिया गया है। इस वित्तीय वर्ष में 2 सरकारी बैंकों और एक साधारण बीमा निगम का निजीकरण करने की कसमें भी खायी गयी हैं। निजीकरण की इस प्रक्रिया के बारे में इस अंक के एक अन्य लेख में विस्तार से चर्चा की गयी है।

बुनियादी ढाँचे के विकास के लिए सरकारी उपक्रमों का निजीकरण करने के अलावा इस क्षेत्र में निजी निवेश को बढ़ावा देने के लिए निजी बैंकों और वित्तीय कम्पनियों को भी रिझाने की कोशिशें इस बजट में की गयी हैं। वित्तमंत्री ने इन निजी उपक्रमों के नवोन्मेषी चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की और उनको बढ़ावा देने के लिए सरकार की ओर से शुरुआती पूँजी प्रदान करने का भी ऐलान किया।

पूँजीपतियों के करों में रियायत और जनता पर अप्रत्यक्ष करों का बढ़ता बोझ

पिछले साल के बजट में सरकार ने 20.2 लाख करोड़ रुपये के राजस्व की उम्मीद की थी। लेकिन इस बार के बजट में जारी किये गये संशोधित अनुमान के मुताबिक़ वर्ष 2020-21 में मात्र 15.6 लाख करोड़ का सरकारी राजस्व प्राप्त होगा। सरकार राजस्व में आयी इस कमी का ठीकरा कोरोना पर फोड़ने की कोशिश कर रही है लेकिन सच तो यह है कि इसकी मूल वजह सितम्बर 2019 में पूँजीपतियों के कॉरपोरेट कर में की गयी भारी कटौती और जीएसटी को लागू करने में आने वाली दिक़्क़तें रही हैं। राजस्व में आयी इस कमी का हवाला देकर एक तरफ़ सरकार ने इस बजट में सरकारी उपक्रमों के शेयर व सम्पत्तियों को बेचने की रफ़्तार तेज़ करने का ऐलान किया वहीं दूसरी तरफ़ जनकल्याणकारी परियोजनाओं में सरकारी ख़र्च में भारी कटौती करने का भी फ़रमान जारी कर दिया। कोरोना महामारी जैसी संकट की परिस्थिति के बावजूद पूँजीपतियों पर नये कर नहीं लगाये गये, उनको दी गयी छूटें और रियायतें न सिर्फ़ जारी करने का ऐलान किया बल्कि निजी पूँजी निवेश को बढ़ावा देने के नाम पर उन्हें कई क़िस्म की रियायतों की भी घोषणा की गयी।

प्रत्यक्ष करों में बढ़ोतरी करके अमीरों से ज़्यादा कर वसूलने की बजाय कृषि में बुनियादी ढाँचे के विकास के नाम पर पेट्रोल, डीज़ल, चना, मसूर जैसी आम जनता के इस्तेमाल वाली चीज़ों पर सेस लगाकर अप्रत्यक्ष करों को बढ़ाया गया जिसका बोझ आम जनता के ही कन्धों पर पड़ेगा क्योंकि अप्रत्यक्ष कर समाज के सभी लोगों पर एकसमान लगते हैं, भले ही उनकी आय कुछ भी हो।

जनकल्याणकारी योजनाओं के बजट में आपराधिक कटौती

कोरोना महामारी अभी भी समाप्त नहीं हुई है। इस महामारी पर क़ाबू पाने के नाम पर थोपे गये अनियोजित लॉकडाउन की वजह से अर्थव्यवस्था में हुई तबाही का असर आम जनता की ज़िन्दगी पर लम्बे समय तक रहेगा। लेकिन बजट के दस्तावेज़ पढ़कर ऐसा लगता है मानो सरकार मानती है कि इस महामारी का अब कोई असर नहीं रहा और सबकुछ सामान्य हो गया है। तभी तो सरकार ने इस बजट में जनकल्याणकारी योजनाओं के मद में दी जाने वाली राशि में भारी कटौती करने की घोषणा की है। इस साल मनरेगा के बजट में पिछले साल हुए ख़र्च की तुलना में 41 प्रतिशत कम राशि आवंटित की गयी है। इसी प्रकार मिड-डे मील स्कीम में 14 हज़ार करोड़ रुपये कम आवंटित किये गये हैं और और इण्टीग्रेटेड चाइल्ड डेवलपमेण्ट स्कीम के बजट में 30 प्रतिशत कटौती की गयी है। कहने की ज़रूरत नहीं कि कोरोना काल में इन कटौतियों का सीधा असर ग़रीबों में कुपोषण की समस्या के बढ़ने के रूप में सामने आयेगा। यही नहीं रोज़गार व कौशल विकास के मद में भी 35 फ़ीसदी की कटौती की गयी है। कोरोना काल में क़रीब 20 करोड़ रोज़गार गँवाने वाले देश में इस कटौती को आपराधिक ही कहा जाना चाहिए। बजट के पूँजीपरस्त और जनविरोधी चरित्र का पता इसी से चल जाता है कि उसमें पूँजीपतियों के लिए "ईज़ ऑफ़ डूइंग बिज़नेस" यानी बिज़नेस करने में सहूलियत के नाम पर रियायतों की बौछार की गयी है लेकिन जनकल्याण के लिए केन्द्रीय स्कीमों की संख्या कम कर दी गयी है।

स्वास्थ्य बजट में अभूतपूर्व वृद्धि के ढोल की पोल

वित्तमंत्री निर्मला सीतारमन ने अपने बजट भाषण में घोषणा की कि सरकार स्वास्थ्य व कल्याण पर वित्तीय वर्ष 2021-22 में पिछले साल के मुक़ाबले 137 फ़ीसदी की बढ़ोतरी करेगी। वित्तीय वर्ष 2020-21 में स्वास्थ्य पर ख़र्च एक लाख करोड़ रुपये से भी कम था जबकि 2021-22 में क़रीब सवा दो लाख रुपये ख़र्च करने का ऐलान किया गया है। ऊपरी तौर पर देखने पर तो लगता है कि वाक़ई सरकार ने इस बजट में स्वास्थ्य को तवज्जो दी है। लेकिन थोड़ा और क़रीबी से पड़ताल करने पर हम पाते हैं कि सरकार यहाँ शब्दों और आँकड़ों की बाज़ीगरी कर रही है। पहली बाज़ीगरी तो सरकार ने यह की है कि स्वास्थ्य पर हुए ख़र्च में आयुष विभाग एवं पेय जल और स्वच्छता विभाग में होने वाले ख़र्च को भी जोड़कर आँकड़े जारी किये हैं ताकि देखने में यह राशि बड़ी लगे। इसके अलावा कोविड-19 की वैक्सीन के लिए विशेष रूप से आरक्षित 35 हज़ार करोड़ रुपये को भी सरकार ने स्वास्थ्य बजट में ही जोड़ दिया है और स्वास्थ्य के मद को स्वास्थ्य और कल्याण मद का नाम दे दिया है। इन आँकड़ों और शब्दों की हेरफेर को दुरुस्त करके स्वास्थ्य के लिए आवंटित बजट की असली राशि देखने पर हम पाते हैं कि वास्तव में पिछले वित्त वर्ष के मुक़ाबले इस वर्ष स्वास्थ्य के मद में 0.1 प्रतिशत की कटौती की गयी है। कोरोना काल में सार्वजनिक चिकित्सा तंत्र की ख़स्ता हालत खुलकर सबके सामने आ गयी है। बजट में प्राथमिक या उच्च स्तरीय चिकित्सा व्यवस्था में सुधार के लिए कोई पहल नहीं की गयी है।

हर बार के बजट की तरह इस बजट में भी शिक्षा, स्वास्थ्य, रोज़गार आदि के बजट में बढ़ोतरी करने की बजाय रक्षा बजट में बढ़ोतरी की गयी है। इस प्रकार कोरोना महामारी के दौरान पेश किया गया यह बजट मोदी सरकार के पूँजीपरस्त और जनविरोधी चरित्र को एक बार फिर से पुष्ट करता है।

गूगल के कर्मचारियों ने बनायी अपनी यूनियन : क्या इस पहल का विस्तार दूसरी दैत्याकार टेक्नोलॉजी कम्पनियों में भी होगा?

– अखिल कुमार

इसी साल 4 जनवरी को अमेरिकी बहुराष्ट्रीय आई.टी. (सूचना प्रौद्योगिकी) कम्पनी, गूगल और इसकी मूल कम्पनी, अल्फ़ाबेट के 400 से अधिक स्थायी कर्मचारियों ने अपनी पहली यूनियन, अल्फ़ाबेट वर्कर्स यूनियन (AWU) की घोषणा की, जिसकी सदस्यता अब लगभग 800 हो गयी है। गूगल के दुनिया भर में स्थित केन्द्रों में 2,00,000 से अधिक कर्मचारी काम करते हैं, जिनमें अलग-अलग तरह के काम करने वाले स्थायी, अस्थायी और ठेका कर्मचारी शामिल हैं। इस संख्या को देखते हुए 800 कर्मचारियों की यह यूनियन बेहद छोटी बात लग सकती है, लेकिन ऐसा है नहीं।

ऐसा नहीं है कि गूगल या आई.टी. उद्योग की यह कोई पहली यूनियन है। इससे पहले भी गूगल में यूनियनें बनती रही हैं, चाहे वह 2019 में गूगल के पिट्सबुर्ग सेन्टर के 80 ठेका कर्मियों द्वारा संगठित होने की कोशिश हो, 2019 में ही कम्पनी के माउण्टेन व्यू, कैलिफ़ोर्निया स्थित मुख्यालय के 2,000 से अधिक कैफ़ेटेरिया कर्मचारियों का संगठित होना हो, या 2017 में वहाँ के सिक्योरिटी गार्डों का संगठित होना हो। लेकिन, अल्फ़ाबेट वर्कर्स यूनियन अपनी तरह की पहली यूनियन है। इसके तीन कारण हैं। पहला यह कि इसे गूगल और अल्फ़ाबेट के स्थायी आई.टी. कर्मचारियों ने बनाया है और फ़ेसबुक, अमेज़न, ऐपल, नेटफ़्लिक्स, गूगल जैसी दैत्याकार बहुराष्ट्रीय आई.टी. कम्पनियों, जिन्हें एक साथ फ़ाँग (FAANG) कम्पनियाँ भी कहा जाता है, के लिए यह बिल्कुल नयी बात है।

दूसरा, यह यूनियन केवल स्थायी आई.टी. कर्मचारियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसमें किसी भी तरह का काम करने वाले अस्थायी और ठेका कर्मचारी भी शामिल हो सकते हैं। इस मामले में यह यूनियन पारम्परिक यूनियनों से हटकर है।

तीसरा, **इस यूनियन के गठन का कारण केवल वेतन आदि जैसे आर्थिक मसले ही नहीं हैं बल्कि राजनीतिक मसले भी हैं। इसके मुख्य मसले हैं – समावेशी और न्यायपूर्ण कार्य स्थितियाँ; उत्पीड़न, दुर्व्यवहार, भेदभाव और बदले की कार्रवाई करने वालों पर सख़्ती; जनसमुदायों के ख़िलाफ़ जाने वाले प्रोजेक्टों पर काम करने से इन्कार करने की आज़ादी; स्थायी, अस्थायी, ठेका और विभिन्न प्रकार के काम करने वाले सभी कर्मचारियों को बराबर सहूलियतें।**

यह यूनियन कम्युनिकेशन वर्कर्स ऑफ़ अमेरिका नामक यूनियन के समर्थन से बनी है, जो अमेरिका के संचार और मीडिया उद्योग के कर्मचारियों की सबसे बड़ी यूनियन है। यूनियन का गठन और घोषणा भले ही 4 जनवरी को हुई, लेकिन इसकी गुप्त तैयारियाँ साल 2019 के अन्त से ही चल रही थीं और इसके हालात तो बहुत पहले से ही तैयार हो रहे थे। गूगल में प्रतिरोध की आवाज़ें बहुत पहले से उठती रही हैं।

आइए इसकी कुछ मिसालें देखते हैं। 2010 में गूगल अपने सोशल मीडिया नेटवर्क गूगल प्लस को लेकर एक नीति लाया, जिसके तहत इसका इस्तेमाल करने वाले सभी लोगों के लिए अपने असली नाम का इस्तेमाल करना लाज़िमी था। इस नीति का गूगल के कर्मचारियों ने ज़बर्दस्त विरोध किया, इसे लोगों की निजता के साथ खिलवाड़ बताया और ख़ासकर समलैंगिक और अन्य यौन रुझान वाले लोगों के लिए इसे ख़तरनाक क़रार दिया। इस विरोध के कारण गूगल को यह नीति वापिस लेनी पड़ी। 2018 में हज़ारों कर्मचारियों ने गूगल द्वारा अमेरिका के रक्षा विभाग के प्रोजेक्ट मैवेन पर काम करने का विरोध किया। इस प्रोजेक्ट के तहत गूगल के कर्मचारियों को ड्रोन की आर्टिफ़िशियल इण्टेलिजेंस (कृत्रिम बुद्धि) को बेहतर बनाना था ताकि ड्रोन की निशाना साधने की क्षमता बढ़ सके। इन ड्रोनों का इस्तेमाल अमेरिका आतंकवाद ख़त्म करने और लोकतंत्र फैलाने के नाम पर दूसरे देशों के निर्दोष लोगों के क़त्लेआम के लिए करता है। कर्मचारियों के प्रतिरोध के कारण गूगल को रक्षा विभाग के साथ इस प्रोजेक्ट पर काम करने का इक़रारनामा रद्द करना पड़ा। 2018 में ही जब गूगल के बड़े अधिकारी के ख़िलाफ़ एक कर्मचारी के साथ यौन उत्पीड़न के आरोप लगे और गूगल ने दोषी के ख़िलाफ़ कार्रवाई करने के बजाय पैसों के लेन-देन से मामला रफ़ा-दफ़ा करवाने की कोशिश की तो कम्पनी के दुनिया भर में स्थित केन्द्रों के लगभग 20,000 कर्मचारियों ने प्रतिरोध मार्च निकाला।

कर्मचारियों द्वारा यह आरोप भी लगाये जाते रहे हैं कि आवाज़ उठाने वाले कर्मचारियों के ख़िलाफ़ गूगल बदले की कार्रवाई कर रहा है। पिछले साल, जब आर्टिफ़िशियल इण्टेलिजेंस के नैतिक और सामाजिक दुष्प्रभावों पर अनुसंधान पत्र लिखने के चलते गूगल ने टिमनित गेबरू नामक कर्मचारी को नौकरी से निकाल दिया तो इसका अन्य कर्मचारियों ने पुरज़ोर विरोध किया और कम्पनी को खुला पत्र लिखकर इस पर स्पष्टीकरण देने की माँग की। इसके अलावा, 6 जनवरी को अमेरिका की संसद, कैपीटॉल, में भूतपूर्व राष्ट्रपति ट्रम्प के समर्थकों की हिंसा और उत्पात के बाद भी गूगल द्वारा ट्रम्प को प्रतिबन्धित न करने का वहाँ के कर्मचारियों ने विरोध किया। इसी तरह समय-समय पर गूगल के कर्मचारी अपनी आवाज़ बुलन्द करते रहे हैं।

आज दुनिया भर में फ़ासीवादी-अर्द्धफ़ासीवादी ताक़तें उभार पर हैं और कई देशों में तो बाक़ायदा सत्तासीन हैं, मसलन हमारे अपने देश में। इन ताक़तों के उभार में यूट्यूब, फ़ेसबुक, व्हॉट्सऐप, ट्विटर जैसी आई.टी. सेवाओं का बहुत बड़ा योगदान रहा है। झूठे साम्प्रदायिक प्रचार से लेकर दंगे करवाने तक में आर.एस.एस. जैसे फ़ासिस्ट संगठन इनका बख़ूबी इस्तेमाल करते रहे हैं, यह मुज़फ़्फ़रनगर और दिल्ली के सुनियोजित दंगों में स्पष्ट देखा जा चुका है। इसी तरह का इस्तेमाल अन्य देशों में भी फ़ासिस्ट ताक़तें अपने झूठे प्रचार के लिए कर रही हैं। लेकिन, यह सेवाएँ प्रदान करने वाली कम्पनियाँ इन ताक़तों पर रोक नहीं लगातीं, इनके ख़िलाफ़ की गयी शिकायतों को नज़रन्दाज़ करती हैं और ज़्यादातर मामलों में इन्हें खुला हाथ देती हैं। इसके विपरीत उन लोगों की पहुँच को कम करने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे अपनाये जाते हैं, जो जनता के हक़ों की बात करते हैं। इसके अलावा, **ये कम्पनियाँ इनकी सेवाओं का इस्तेमाल करने वाले लोगों की निजता की धज्जियाँ उड़ाती हैं, उनकी निजी जानकारी सरकारों को मुहैया करती हैं और यह जानकारी विज्ञापन कम्पनियों को बेचती हैं।** ज़ाहिर है कि इन कम्पनियों से इसके अलावा किसी चीज़ की उम्मीद करना मूर्खता होगी। इनका जनाधिकारों से क्या लेना-देना! इन कम्पनियों का भी एकमात्र लक्ष्य मुनाफ़ा कमाना है। इसके लिए उन्हें अलग-अलग देशों, ख़ासकर तीसरी दुनिया के देशों, की सरकारों से कम से कम लागत में अपने केन्द्र स्थापित करने और बेरोकटोक सस्ते श्रम का शोषण करने की अनुमति चाहिए और साथ ही, लोगों की निजी जानकारी पर एकाधिकार क़ायम करने के लिए खुला हाथ चाहिए। और, एक हाथ ले दूसरे हाथ दे की तर्ज़ पर सरकारें इनकी मदद करती हैं और ये सरकारों की। **ऐसे में, अगर गूगल के भीतर से इसके ख़िलाफ़ संगठित आवाज़ उठ रही है तो यह अच्छी बात है। गूगल में यूनियन की शुरुआत से फ़ेसबुक आदि जैसी अन्य कम्पनियों में भी आई.टी. कर्मचारियों को संगठित होने की प्रेरणा मिलेगी। अमेज़न में भी अनेक दमनकारी कोशिशों के बावजूद यूनियन बनाने के प्रयास आगे बढ़ रहे हैं।**

गूगल जैसी कम्पनियाँ यूनियन न बनने देने के लिए तरह-तरह के हथकण्डे अपनाती हैं। हाल में एक रिपोर्ट में यह बात सामने आयी कि गूगल ने पिछले दिसम्बर में आईआरआई कंसल्टेंट्स नाम की एक फ़र्म की सेवाएँ लीं जिसका काम ही है यूनियन बनाने की राह में रोड़े अटकाना। यह फ़र्म सक्रिय कर्मचारियों की जासूसी करके उनकी पर्सनालिटी, स्वभाव, सोच, पारिवारिक पृष्ठभूमि, पति या पत्नी की नौकरी, आर्थिक स्थिति, स्वास्थ्य की समस्याओं, नैतिकता, नौकरी में अनुशासन के इतिहास, यूनियन सम्बन्धी सक्रियता आदि के बारे में फ़ाइल तैयार करके कम्पनी को देती है। बताया जाता है कि गूगल की यूनियन में शामिल होने से कर्मचारियों को दूर करने के लिए इस फ़र्म को कई मिलियन डॉलर का कॉन्ट्रैक्ट दिया गया है।

गूगल जैसी दैत्याकार आई.टी. कम्पनियों में कर्मचारियों का यूनियन में संगठित हो पाना हमेशा मुश्किल रहा है। गूगल जैसी कम्पनियाँ अपना ज़्यादातर काम स्थायी कर्मचारियों से न करवाकर अस्थायी और ठेका कर्मचारियों से करवाती हैं। इसमें भी उनकी पहली पसन्द भारत जैसे तीसरी दुनिया के देश होते हैं। यहाँ ये छोटी-छोटी आई.टी. कम्पनियों के मार्फ़त बेहद कम लागत पर अपना काम करवा लेती हैं। बताने की ज़रूरत नहीं है कि इन कम्पनियों के कर्मचारियों और गूगल के कर्मचारियों के वेतन और अन्य सहूलियतों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ होता है। गूगल के स्थायी कर्मचारियों को अन्य कर्मचारियों से काफ़ी ज़्यादा वेतन मिलता है। ऐसे में स्थायी कर्मचारियों का यूनियन में संगठित होने काफ़ी मुश्किल होता है और उसमें अन्य प्रकार के और अन्य देशों के कर्मचारियों को शामिल करना भी टेढ़ी खीर है। ऐसे में देखना होगा कि गूगल के कर्मचारियों की यह पहल सफल हो पाती है या नहीं।

नेपाल : संशोधनवाद का भद्दा बुर्जुआ रूप खुलकर सबके सामने है!

(पेज 12 से आगे)

सत्तारूढ़ कम्युनिस्ट पार्टियों को अन्य पार्टियों से किसी मुक़ाबले का सामना नहीं करना पड़ा, इसलिए सत्तारूढ़ कम्युनिस्ट पार्टियाँ भ्रष्ट हो गयीं। तत्कालीन नेकपा (माओवादी) की यह थीसिस राज्य और क्रान्ति विषयक लेनिन तथा महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की शिक्षाओं का निषेध थी। यह थीसिस इस पार्टी के संशोधनवाद की ओर प्रस्थान बिन्दु थी। एक बार संशोधनवाद की फिसलन पर पैर रखने के बाद गर्त में जाना बस समय की बात होती है।

लेनिन ने बताया था कि संशोधनवाद का खोल कम्युनिस्ट होता है और उसकी अन्तर्वस्तु बुर्जुआ होती है। नेपाल की राजनीति में नेकपा के भीतर निर्लज्ज संशोधनवादी ओली और घाघ संशोधनवादी प्रचण्ड के धड़ों के बीच कुर्सी को लेकर चली उठापठक और ओली के घोर निरंकुश आचरण ने इस बुर्जुआ अन्तर्वस्तु को ही उभारकर सामने लाया है। बेशक नेपाल में आज का तात्कालिक कार्यभार ओली की तानाशाही को ख़त्म करके संवैधानिक प्रक्रिया की बहाली है और उसके लिए जनान्दोलन को तेज़ करने और जुझारू बनाने की ज़रूरत है। लेकिन किसी को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि ओली को हटाकर प्रचण्ड, माधव कुमार नेपाल या किसी अन्य संशोधनवादी सूरमा को गद्दी पर बिठा देने से नेपाल की क्रान्ति पटरी पर आ जायेगी।

नेपाल के संशोधनवादियों के कुकर्मों की वजह से वहाँ के समाज में कम्युनिज़्म की विचारधारा और सर्वहारा मुक्ति के सपने के प्रति भी बड़े पैमाने पर मोहभंग हुआ है। इस मोहभंग की स्थिति का लाभ उठाकर भाँति-भाँति की बुर्जुआ विचारधाराएँ, संगठन और मूल्य-मान्यताएँ वहाँ के समाज में अपनी जड़ें जमा रहे हैं। लोभ-लालच-स्वार्थ की पूँजीवादी संस्कृति भी नेपाली समाज को अपने शिकंजे में कस रही है। नेपाल में वर्तमान राजनीतिक संरचनाएँ इस परिस्थिति का सटीक मूल्यांकन करके सही दिशा निकालने में अक्षम साबित हो रही हैं। ऐसे में नये सिरे से बोल्शेविक उसूलों व सही क्रान्तिकारी जनदिशा पर आधारित क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण करके ही नेपाली क्रान्ति को पटरी पर लाया जा सकता है। आज ज़रूरत नेपाली समाज में उत्पादन सम्बन्धों के ठोस अध्ययन के आधार पर रणनीति और आम रणकौशल तैयार करने की श्रमसाध्य और दीर्घकालिक चुनौती को स्वीकार करने की है। यह ज़िम्मेदारी वहाँ की युवा पीढ़ी के कन्धों पर है। बेशक यह रास्ता बहुत लम्बा और ऊबड़-खाबड़ रास्तों से होकर जायेगा, लेकिन इसके सभी शॉर्टकट संशोधनवाद के गड्ढे की ओर जाते हैं।

चिंगारी से भड़केंगी ज्वालाएँ

रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन के कुछ रोचक संस्मरण, मज़दूर संघर्षों को एक सूत्र में पिरोने वाले इन्क़लाबी अख़बार 'ईस्क्रा' की तैयारी के सम्बन्ध में

– ज़ोया वोस्क्रेसेंस्काया

व्लादीमिर इल्यीच ने अपनी माँ को आहिस्ता से खींचकर अपने पास सोफ़े पर बैठा लिया।

"घर पर होना कितनी शानदार बात है! मैं कल्पना कर सकता हूँ कि धूपदार दिनों में यह जगह कितनी सुन्दर लगती होगी।"

"बरसाती दिनों में भी यह बुरी नहीं लगती," उल्लसित माँ ने कहा। "देखते नहीं, बारिश कितनी ताज़गी देती है।"

"अच्छा, व्लादीमिर, यह बताओ, तुम कैसे पकड़े गये थे और फिर तुमने किस तरह रिहाई हासिल की?" आन्ना बोलीं।

मरीया अलेक्सान्द्रोव्ना समोवार के पास बैठ गयीं और चाय डालने लगीं।

"जैसे ही मैं पीटर्सबर्ग पहुँचा, मैंने देखा कि मेरा पीछा किया जा रहा है," व्लादीमिर इल्यीच हंसे। "जब मुझे पुलिसवालों ने दबोच ही लिया, तो मुझे बस अपनी जेबें ख़ाली करने की बात ही सूझ रही थी, मगर यह ख़्याल ही बेकार था। दो भारी-भरकम शैतानों ने मेरी एक-एक बाँह को जकड़ लिया और उन्हें पीछे की तरफ़ मोड़ दिया, जबकि तीसरा यह देख रहा था कि मैं किसी चीज़ को निगल न जाऊँ। और मालूम है, मेरी जेबों में क्या था? अख़बार के लिए जमा किये गये दो हज़ार रूबल, प्लेखानोव (गेओर्गी प्लेखानोव (1856-1918) – रूसी क्रान्तिकारी और विचारक, प्रख्यात मार्क्सवादी सिद्धान्तकार।) के नाम एक लम्बा ख़त, जिसमें इस बात की विस्तृत रूपरेखा थी कि अख़बार को कैसे संगठित किया जायेगा, गुप्त पते और संकेत शब्द।"

"मुझे तो इसकी बात सोचकर ही कंपकंपी आ रही है," मरीया बोली।

"लेकिन बात यह है," एक उंगली उठाते हुए व्लादीमिर इल्यीच ने कहा, "ये सभी बातें दूध, नींबू के रस और दूसरी खाने की चीज़ों से लिखी हुई थीं और सो भी पुराने बिलों और रसीदों की लकीरों के बीच। मैं हवालात में पड़ा-पड़ा यही सोच रहा था कि पुलिस को काग़ज़ों पर गरम इस्तरी फेरने का ख़्याल आयेगा या नहीं।"

"फिर क्या हुआ?" मरीया ने बेसब्री के साथ पूछा।

"दस दिन बाद मुझे जेलर के कार्यालय में बुलाया गया और यह चेतावनी दी गयी कि मैं पीटर्सबर्ग तथा साठ और शहरों में नहीं जा सकता और यह कि मैं किसी भी कारण से प्स्कोव छोड़कर नहीं जा सकता। उन्होंने मेरे सारे काग़ज़, रसीदें और पैसे लौटाये, तो मैं अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर सका। सचमुच वे सभी पूरे काठ के उल्लू हैं। इसलिए मैंने उनसे विनयपूर्वक प्रार्थना की कि वे मुझे तुम लोगों से मिलने के लिए आने दें।"

तथापि पुलिस को इतना भरोसा नहीं था कि व्लादीमिर इल्यीच को अकेले सफ़र करने दिया जाये। एक पुलिसवाला उनके साथ पोदोल्स्क तक आया और उसने उन्हें स्थानीय पुलिस के प्रमुख के सुपुर्द कर दिया।

यहाँ उन्हें बुद्धि की एक नयी परीक्षा से गुज़रना था। पुलिस के प्रमुख ने व्लादीमिर इल्यीच का वैदेशिक पासपोर्ट देखने के लिए माँगा और उसके पन्ने पलटने के बाद उसने उसे अचानक अपनी मेज़ की दराज़ में रख लिया। "आपको विदेश जाने की ज़रूरत नहीं है," वह बोला, "इसलिए आपका पासपोर्ट मैं रख लेता हूँ, यहाँ वह सुरक्षित रहेगा।"

व्लादीमिर इल्यीच ने अपनी बात जारी रखी, "मैं बेहद ग़ुस्से में भर गया। उस बूढ़े मक्कार ने तो अख़बार की हमारी सारी योजनाओं को ही अपनी दराज़ में बन्द कर दिया था। मैं सचमुच बेहद नाराज़ हो गया था और मैंने कहा कि मैं आपकी ग़ैर-क़ानूनी कार्रवाई की आपके अधिकारियों से शिकायत करूँगा। मैं ज़रूर काफ़ी ज़ोर से बोला होऊँगा, क्योंकि बूढ़ा मुझसे डर गया। उसने जल्दी से दराज़ को खोला और जब उसने देखा कि मैं पलटकर जाने ही वाला हूँ, तो वह ख़ुशामद करने लगा कि मैं पासपोर्ट वापस ले लूँ और उसकी शिकायत न करूँ।"

अपनी कहानी के इस हिस्से पर पहुँचते-पहुँचते व्लादीमिर इल्यीच अपने सिर को पीछे सोफ़े पर डालकर ख़ुशी के साथ हँसने लगे थे।

मरीया भी उनके साथ-साथ हँसने लगीं।

"तो तुम्हें वैदेशिक पासपोर्ट मिल गया है," उनकी माँ अपनी निराशा को न प्रकट करने का प्रयास करते हुए बोलीं।

"हाँ, मुझे जर्मनी जाना होगा," व्लादीमिर इल्यीच उठे। वर्षों की आदत से उन्होंने दरवाज़े का कुण्डा लगाया, खिड़कियाँ कसकर बन्द कीं और दबी हुई आवाज़ में बोलते रहे, "हम एक बहुत बड़ी चीज़ की योजना बना रहे हैं – हम एक अख़बार निकालने वाले हैं।"

वह अपनी संजोयी हुई योजनाओं के बारे में बड़े जोश के साथ बताने लगे। हर जगह मज़दूर अधिकाधिक लड़ाकू होते जा रहे हैं। जिस चीज़ की ज़रूरत है, वह है एक केन्द्रीय अख़बार, जो स्वतंत्रता के लिए और ज़ार के ख़िलाफ़ संघर्ष का पथ-प्रदर्शन करे। ज़रूरत है एक ऐसे अखिल-रूसी अख़बार की, जो लाखों मज़दूरों और किसानों को समझाये कि उनके आगे कौन-से कार्यभार हैं, जो काम का एकीकृत कार्यक्रम तैयार करे। उन्होंने और उनके साथी क्रान्तिकारियों ने साइबेरिया में निर्वासन के समय इस तरह के अख़बार की स्थापना की योजनाओं पर विचार-विमर्श किया था। रूस में पुलिस के दमन के कारण उसके प्रकाशन की कोई सम्भावना नहीं है। इसीलिए यह तय किया गया कि उसे विदेश से प्रकाशित किया जाये। फिर अख़बार की प्रतियों को गुप्त रूप से रूस पहुँचाया जायेगा, जहाँ विश्वसनीय लोग उसका मज़दूरों में वितरण करेंगे।

व्लादीमिर इल्यीच रीगा, स्मोलेन्स्क, पीटर्सबर्ग और मास्को हो भी आये थे, भावी वितरण केन्द्रों की स्थापना कर चुके थे और विभिन्न साथियों से सम्पर्क क़ायम करके इस बात की व्यवस्था कर आये थे कि वे अख़बार के लिए लेख भेजते रहें।

"अख़बार का नाम क्या रहेगा?" आन्ना ने पूछा।

"'ईस्क्रा' [रूसी में चिंगारी]। याद है, 'चिंगारी से भड़केंगी ज्वालाएँ'?"

"हाँ, याद है," मरीया ने जवाब दिया। "यह पुश्किन [अलेक्सान्द्र पुश्किन (1799-1837) – महानतम रूसी कवि।] को दिसम्बरवादियों [दिसम्बरवादी – रूसी अभिजातवर्गीय क्रान्तिकारी, जिन्होंने निरंकुश शासन का विरोध किया था और दिसम्बर, 1825 में पीटर्सबर्ग में सशस्त्र विद्रोह किया था।] के प्रसिद्ध उत्तर की एक पंक्ति है।"

अपने बच्चों की बातचीत को सुनते-सुनते मरीया अलेक्सान्द्रोव्ना समझ गयीं कि यह उत्तरदायित्व कितना बड़ा है।

"क़िस्मत तुम्हारा साथ दे! तुम सफल हो!" उन्होंने धीरे-से कहा।

"हाँ, आन्ना! मैंने तुम्हारे लिए भी कुछ सोचा है," व्लादीमिर इल्यीच ने कहा। "तुम्हें मेरे पीछे-पीछे जर्मनी आना होगा और संगठनात्मक काम में हाथ बंटाना होगा। नादेज्दा जैसे ही निर्वासन से रिहा होंगी, वह हमारे पास आ जायेंगी।"

"तभी जाकर आन्ना लेखिका बन पायेगी," मरीया अलेक्सान्द्रोव्ना बोलीं।

आन्ना हर्ष से पुलक उठीं। वह हमेशा से ही साहित्यिक पेशा अपनाने का सपना देखती आयी थीं। उन्होंने बच्चों के लिए कहानियाँ लिखी थीं और अंग्रेज़ी, जर्मन तथा इतालवी किताबों का रूसी में अनुवाद किया था। लेकिन यह कितना महत्वपूर्ण और इज़्ज़त का काम था – वे लोग मज़दूरों के लिए अख़बार निकालते होंगे।

... ...

अगली सुबह डॉक्टर लेवीत्स्की आये।

"आपकी माँ आज मुझे बहुत अच्छी लगीं," उन्होंने दमीत्री से कहा।

"आपका कहना कितना ठीक था, डॉक्टर साहब! ख़ुशी ही सबसे अच्छी दवाई है। चलिए, आपकी अपने भाई से मुलाक़ात करवा दूँ," डॉक्टर को बाग़ की तरफ़ ले जाते हुए दमीत्री ने कहा।

डॉक्टर लेवीत्स्की जानते थे कि व्लादीमिर इल्यीच क्रान्तिकारी और बड़े पढ़े-लिखे आदमी हैं और उनका ख़्याल था कि उनकी भेंट बाग़ में गम्भीरता के साथ टहलते किसी बड़े गम्भीर, चश्मा लगाये भद्र पुरुष से होगी। हाथ में क्रोके का बल्ला लिए भारी बदन के एक नौजवान को देखकर उनके अचरज की सीमा न रही।

व्लादीमिर इल्यीच दिलचस्पी के साथ यह देख रहे थे कि उनकी बहन मरीया गेंद को दोनों विकेटों के बीच से निकाल सकती है या नहीं।

"शाबास!" उन्होंने चिल्लाकर कहा।

उन्होंने बल्ले को दूसरे हाथ में लेकर डॉक्टर लेवीत्स्की से हाथ मिलाया और उन्हें खेल में हिस्सा लेने के लिए आमंत्रित किया। बोलते-बोलते व्लादीमिर इल्यीच ने डॉकटर पर एक तेज़, पैनी नज़र डाली। लेवीत्स्की उम्र में उनसे साल-दो-साल छोटे थे। उनके सुदर्शन चेहरे पर घनी कत्थई दाढ़ी और रेशम जैसे बाल थे। गहरी धँसी सुरमई आँखें प्रतिभापूर्ण थीं और चरित्र की दृढ़ता को दर्शाती थीं। कुल मिलाकर वह एक उदार और भले नवयुवक लगते थे।

दमीत्री ने देखा कि उनके भाई और डॉक्टर ने एक-दूसरे को तुरन्त पसन्द कर लिया है।

उस दिन रविवार था। व्लादीमिर इल्यीच ने राय दी कि नाव में सैर करने के लिए चलना चाहिए।

डॉक्टर लेवीत्स्की अपने नये मित्र की मौजूदगी में ज़रा भी संकोच का अनुभव नहीं कर रहे थे। उन्हें यह परिवार पसन्द था, जिसके हर सदस्य की अलग-अलग रुचियाँ थीं, जिसमें सभी सुसंस्कृत, ख़ुशमिज़ाज और मिलनसार थे और उन्हें लग रहा था कि वह सदा इस परिवार के मित्र बने रहना चाहेंगे।

पाख़ा नदी पर तेज़ी से नाव खेते-खेते व्लादीमिर इल्यीच ने लेवीत्स्की से कई बातों के बारे में प्रश्न किये, जैसे पोदोल्स्क प्रदेश में बाल-मृत्यु की इतनी ऊँची दर क्यों है और फ़ौज में ज़बर्दस्ती भरती किये जाने वाले लोग इतनी बड़ी तादाद में डॉक्टरी परीक्षण से क्यों अयोग्य घोषित किये जाते हैं।

"इसका कारण है हमारे पोदोल्स्क की मशहूर नमदे की टोपियाँ," डॉक्टर लेवीत्स्की ने कहा।

व्लादीमिर इल्यीच ने अचरज से उनकी तरफ़ देखा।

"यह बात मेरी समझ में आयी नहीं।"

"मैं आजकल पोदोल्स्क प्रदेश की आबादी के शारीरिक विकास का अध्ययन कर रहा हूँ," डॉक्टर लेवीत्स्की ने अपनी बात जारी रखी। "और मैंने यह बात साबित कर दी है कि जनता का स्वास्थ्य पारे के धुएँ के कारण लगातार बिगड़ रहा है। यहाँ का नमदा ख़रगोश के रोयों से बनाया जाता है और कारख़ाने उसकी तैयारी में पारे का इस्तेमाल करते हैं। इसका मतलब है कि हर टोपी एक आदमी के स्वास्थ्य का सत्यानाश करती है। मैंने इस नृशंस उत्पादन-प्रणाली का विरोध किया है, मगर मालिकों को तो अपने अलावा और किसी से क्या! जब तक उनके मुनाफ़े बरकरार हैं, उन्हें अपने मुलाज़िमों के स्वास्थ्य की क्या परवाह है?"

"आपका कहना सही है," व्लादीमिर इल्यीच ने जवाब दिया। "अब आगे क्या करने की राय देते हैं?"

"मैंने एक फ़्रांसीसी पत्रिका में पढ़ा था कि वहाँ नमदे को पारे के बिना तैयार करने का एक नया तरीक़ा निकाला गया है। वहाँ पारे की जगह कास्टिक पोटाश का इस्तेमाल किया जाता है।"

"क्या हमारे मज़दूर इस बात को जानते हैं कि उन्हें बाक़ायदा ज़हर दिया जा रहा है?"

"मैंने इस बारे में सिर्फ़ मालिकों से ही नहीं, बल्कि छोटे कारीगरों और मज़दूरों से भी बात की है। मगर वे अपना काम नहीं छोड़ सकते। उनके पास रोज़ी कमाने का और कोई ज़रिया नहीं है।"

"और आपने कितने मज़दूरों से इस बारे में बात की है?"

"बीसियों से।"

"मेरे ख़्याल से रूस भर के मज़दूरों को इसके बारे में पता चलना चाहिए – उसी तरह, जैसे पोदोल्स्क के टोपी बनाने वाले मज़दूरों को दोन के खनिकों की, या इवानोवो-वोज्नेसेन्स्क के मिल मज़दूरों की, या लेना की सोने की खानों के खनिकों की काम की अमानवीय परिस्थितियों के बारे में पता चलना चाहिए।"

"लेकिन यह किया कैसे जा सकता है?"

"उन्हें इसकी जानकारी अपने ख़ुद के अख़बार में मिलनी चाहिए और सिर्फ़ यही नहीं, उन्हें यह भी सिखाया जाना चाहिए कि मिल मालिकों के ख़िलाफ़ संगठित ढंग से कैसे लड़ना चाहिए – उन्हें आज़ादी पाने का रास्ता दिखाया जाना चाहिए।"

लेवीत्स्की ने कड़वी मुस्कुराहट के साथ पूछा, "भला, ऐसा कौन-सा अख़बार होगा, जो इन सब बातों को छापे?"

"मैं बतलाता हूँ आपको कौन सा अख़बार। उसका नाम है 'ईस्क्रा'। क्या आप यहाँ के कारख़ानों की हालत के बारे में लेख लिखेंगे? आप यह लेख दमीत्री को दे दीजिए – वह जानते हैं कि उसे कहाँ पहुँचाया जाये।"

(पेज 15 पर जारी)

नाज़ी जर्मनी के चार चित्र

हिटलर काल के जर्मनी पर **बेर्टोल्ट ब्रेष्ट** के लघु नाटकों की श्रृंखला 'ख़ौफ़ की परछाइयाँ' से। अनुवाद : **अमृत राय**

[मज़दूर की कोठरी। एक औरत जिसके दो बच्चे हैं। एक नौजवान मज़दूर दम्पति जो मिलने आये हैं। औरत रोती है। सीढ़ी पर पैरों की आवाज़ सुन पड़ती है। दरवाज़ा खुला है।]

औरत : उसने सिर्फ़ इतना ही तो कहा था कि हम लोगों को इतनी कम मज़दूरी मिलती है कि हमेशा भूखों मरने की नौबत आयी रहती है। और बिल्कुल ठीक ही तो कहा उसने। इस बुढ़िया को फेफड़े की बीमारी है और हम लोग इसके लिए दूध तक नहीं ख़रीद सकते। कहीं उन्होंने उसे कुछ कर तो नहीं दिया?

[नाज़ी सैनिक एक बड़ा-सा बक्सा लाते हैं और उसे फ़र्श पर रख देते हैं।]

नाज़ी सैनिक : देखो, किसी क़िस्म का गुल-गपाड़ा मचाने की कोशिश मत करना। निमोनिया किसी को भी हो सकता है। ये रहे तुम्हारे काग़ज़ात। काग़ज़ात बिल्कुल ठीक हैं। समझाये देता हूँ, कोई बेवक़ूफ़ी का काम न कर बैठना।

[नाज़ी सैनिक चला जाता है।]

बच्चा : अम्मा, बाबू इसके अन्दर हैं क्या?

मज़दूर : *[बक्से को इधर-उधर देखते हुए]* टीन का है।

बच्चा : इसे हम खोल नहीं सकते क्या?

मज़दूर : *[ग़ुस्से में]* हाँ, हाँ, क्यों नहीं। औज़ारों वाला बक्सा कहाँ है?

[औज़ार ढूँढ़ता है। उसकी जवान पत्नी उसे रोकती है।]

पत्नी : मत खोलो, हांस! सब तुम्हें भी पकड़ लेंगे, बस।

मज़दूर : मैं देखना चाहता हूँ कि उन्होंने उसके साथ क्या किया है। वे डरते हैं कि कोई देख न ले, नहीं यों टीन के बकस में बन्द करके न लाते। मुझे छोड़ दो, मैं देखूँगा।

पत्नी : मैं तुम्हें नहीं खोलने दूँगी। तुमने सुना नहीं, वे क्या कह रहे थे।

मज़दूर : उसे देख तो लें हम लोग, कम से कम। तुम क्या कहती हो?

औरत : *[अपने बच्चे का हाथ पकड़े टीन के बक्से तक जाती है]* हांस, अभी मेरा एक भाई ज़िन्दा है जिसे वे पकड़ सकते हैं। वे तुम्हें भी पकड़ सकते हैं। बक्सा बन्द ही रहने दो। हमें देखने की कोई ज़रूरत नहीं है। हम उसे भूलेंगे नहीं।

2

[यातना शिविर। बैरक की दीवारों के बीच थोड़ी-सी खुली जगह। अभी रोशनी नहीं हुई है। किसी को कोड़े मारे जाने की आवाज़ सुन पड़ती है। फिर एक नाज़ी सैनिक एक क़ैदी को कोड़े मारता दिखायी पड़ता है। नाज़ी सैनिकों का दल-नायक कोड़े मारने वाले की ओर पीठ किये खड़ा सिगरेट पी रहा है। फिर वह चला जाता है।]

नाज़ी सैनिक : *[थककर एक पीपे पर बैठ जाता है]* अब शुरू करो काम! *[क़ैदी ज़मीन पर से उठता है और अस्थिर शरीर से शौचालय साफ़ करने लग जाता है।]*

नाज़ी सैनिक : सूअर, जब तुमसे सवाल किया जाता है तो यह कहने में तुम्हारा क्या जाता है कि मैं कम्युनिस्ट नहीं हूँ। तुम्हारी ठोंकाई होती है और मेरा पास छिन जाता है। यह कोई नहीं देखता कि मैं किस बुरी तरह थका हुआ हूँ। वे क्लापरोट को यह काम क्यों नहीं सौंप देते? उसे तो इसमें बड़ा मज़ा आता है। अगर वह बदमाश रण्डीबाज़ फिर बाहर आये *[कान लगाकार सुनता है]* तो तुम कोड़ा लेकर उससे ज़मीन को पीटने लग जाना। समझे?

क़ैदी : जी।

नाज़ी सैनिक : और यह सब सिर्फ़ इसलिए कि मैं तुम कुत्तों को कोड़े मारते-मारते थक गया हूँ, मेरा मन ख़राब हो गया है। समझे?

क़ैदी : जी!

नाज़ी सैनिक : देखो!

[बाहर पैरों की आवाज़ सुन पड़ती है और नाज़ी सैनिक कोड़े की ओर इशारा करता है। क़ैदी उसे उठा लेता है और ज़मीन को पीटने लग जाता है। चूँकि कोड़ों की फटकार असली मार की तरह नहीं है, इसलिए नाज़ी सैनिक पास पड़ी हुई टोकरी की ओर सुस्ती से इशारा करता है, और क़ैदी उसी को पीटने लग जाता है। बाहर पैर की आवाज़ थम जाती है। नाज़ी सैनिक घबड़ाकर झटपट उठ खड़ा होता है, क़ैदी के हाथ से कोड़ा छीनकर उसे मारना शुरू कर देता है।]

क़ैदी : [*धीमी आवाज़ में]* पेट पर नहीं।

[नाज़ी सैनिक उसे कूल्हों पर मारता है। उसका दलनायक अन्दर झाँकता है।]

दलनायक : पेट पर मारो।

[नाज़ी सैनिक क़ैदी को पेट पर मारता है।]

3

[दो नाज़ी सैनिक जाड़े की इमदादी चीज़ों का एक पैकेट लेकर एक बुढ़िया के मकान में आते हैं। बुढ़िया और उसकी लड़की एक मेज़ के पास खड़े हैं।]

पहला सैनिक : यह लो माँ, फ़्यूहरर (हिटलर) ने तुम्हारे लिए भेजा है।

दूसरा सैनिक : अब तुम यह नहीं कह सकती कि उसे तुम्हारी फ़िक्र नहीं है।

बुढ़िया : शुक्रिया, एर्ना, इसमें आलू हैं। और एक ऊनी जम्पर। और सेब।

पहला सैनिक : और फ़्यूहरर की ओर से एक ख़त जिसमें कुछ रखा है, खोल के देखो तो ज़रा!

बुढ़िया : *[चिट्ठी खोलती है]* पाँच मार्क! अब कहो एर्ना?

पहला सैनिक : जाड़े की सहायता!

बुढ़िया : अब तुम्हें मेरे हाथ से एक सेब खाना ही पड़ेगा बेटा, और तुम्हें भी। क्योंकि तुम्हीं तो तमाम सीढ़ियाँ चढ़कर हमारे लिए ये चीज़ें लाये। बात यह है कि तुम्हें खिलाने को मेरे पास और कुछ नहीं है। आओ यह साथ-साथ खायें।

[वह एक सेब में मुँह मारती है। लड़की को छोड़कर और सब सेब खाते हैं।]

बुढ़िया : तुम क्यों नहीं खाती एर्ना, और देखो वैसी रोनी सूरत बनाकर मत खड़ी रहो! देख ही रही हो कि अब वैसा बुरा हाल नहीं है, जैसा कि तुम्हारा आदमी कहता है।

पहला सैनिक : वह क्या कहता है।

लड़की : वह कुछ नहीं कहता। बुढ़िया फ़िज़ूल बक रही है।

बुढ़िया : हाँ, कोई ख़ास बुरी बात नहीं है। बस यही कहता है, जैसा कि सभी कहते हैं, कि चीज़ें इधर ज़रा महँगी हो गयी हैं। *[सेब से लड़की की ओर इशारा करती है]* और इसने ख़र्चे की कापी से हिसाब लगाकर पता चलाया कि पिछले साल के मुक़ाबले में इस साल खाने की चीज़ों पर उसे एक सौ तेईस मार्क अधिक ख़र्च करने पड़े। क्यों ठीक है न, एर्ना! *[देखती है कि नाज़ी सैनिक उसकी बात पर कुछ नाराज़-से दिखायी पड़ते हैं।]* मगर इसके लिए आख़िर किया भी क्या जा सकता है जब कि तमाम गोला-बारूद तैयार करना हो, है न? क्यों? मैंने कोई बुरी बात कह दी क्या?

पहला सैनिक : औरत, तू अपने ख़र्चे की कापी कहाँ रखती है?

दूसरा सैनिक : और किन-किन लोगों को दिखाती है?

लड़की : मैं उसे हमेशा घर ही पर रखती हूँ। मैं उसे किसी को नहीं दिखाती।

बुढ़िया : ख़र्चे की कापी रखना तो कोई गुनाह नहीं है।

पहला सैनिक : और जो वह तरह-तरह की भयानक कहानियाँ फैलाया करती है, वह भी तो कोई गुनाह नहीं है न?

दूसरा सैनिक : और यह भी तो है कि जब हम लोग अन्दर आये तो मैंने उसको बहुत ख़ुश होकर 'हेल हिटलर' कहते नहीं सुना। क्यों, तुमने सुना?

बुढ़िया : मगर उसने हेल हिटलर कहा और मैं भी कहती हूँ – हेल हिटलर!

दूसरा सैनिक : यह कम्युनिस्टों का अच्छा-ख़ासा अड्डा मालूम पड़ता है, क्यों ऐलबर्ट? हमें उस हिसाब की कापी को एक बार ज़रा देखना है और इसलिए तुम ज़रा हमारे साथ तो चलो अपने मकान तक। *[वह लड़की की बाँह पकड़ लेता है।]*

बुढ़िया : मगर उसका तीसरा महीना है। तुम्हारी इच्छा... तुम उसके साथ? इतने पर भी कि तुम वह पैकेट लाये और हमने तुमसे सेब लिये? फिर भी? मैं तुम्हें बतला रही हूँ कि उसने हेल हिटलर कहा। हाय परमेश्वर, अब मैं क्या करूँ! हेल हिटलर। हेल हिटलर!

[सेब उगल देती है। नाज़ी सैनिक लड़की को ले जाते हैं।]

बुढ़िया : *[अब भी कै करते हुए]* हेल हिटलर!

4

[खेत। रात का समय। सूअर के बाड़े के सामने खड़े होकर किसान अपनी पत्नी और दो बच्चों से कहता है।]

किसान : मैं तुम्हें कभी इसमें नहीं घसीटना चाहता था, मगर तुम चिपकी रही और अब तुम्हें अपना मुँह बन्द रखना होगा, नहीं तो तुम्हारा बाप लैंड्सबर्ग जेल पहुँच जायेगा और तमाम ज़िन्दगी वहीं सड़ेगा। अपने जानवर को भूख लगने पर हम उसे खाना देते हैं तो कुछ बुरा तो नहीं करते। परमात्मा भी तो नहीं चाहता कि उसकी सृष्टि में कोई भूखा रहे। इसे भूख लगी नहीं कि लगती है चिल्लाने और मुझे बर्दाश्त नहीं कि मेरी सुअरिया भूख के मारे खेत में चिल्लाये। और वे हैं कि मुझे उसको खिलाने नहीं देते। क़ानून इसके ख़िलाफ़ है। मगर तब भी मैं उसे खिलाऊँगा, क्योंकि अगर मैं उसे खिलाता नहीं तो वह भी मर जायेगी और मुझी को इसका नुक़सान सहना पड़ेगा।

पत्नी : वही तो मैं भी कहती हूँ। हमारा दूध हमारा है और हम उसका क्या करें, क्या न करें, यह बताने वाले ये साले कौन हैं? यहूदियों को तो उन्होंने खोज-खोज कर निकाल बाहर किया। पर सरकार तो सबसे बड़ी यहूदी है और पादरी हाइन्ज ने हम लोगों से कहा भी तो था : जो बैल तुम्हारे लिए अनाज उपजाता है उसे मारना मत। उन्होंने एक तरह से इशारा किया कि चौपायों को खाना देते रहना चाहिए। कोई हमने तो उनकी चार-साला योजना बनायी नहीं और न किसी ने हमसे उसके बारे में पूछा ही।

किसान : बिल्कुल ठीक। न वे किसानों के लिए हैं और न किसान उनके लिए। यह भी अच्छी रही, मैं अपना अनाज उनके हवाले कर दूँ और फिर चारे के लिए ख़ुद ही बढ़ी हुई क़ीमत दूँ और यह सब सिर्फ़ इसलिए कि गुण्डे तोपें ख़रीद सकें।

पत्नी : पादरी हाइन्ज कहते हैं : शान्ति से रहो, किताब में यही लिखा है।

किसान : टोनी, तुम ज़रा वहाँ तारों के पास तो खड़े हो जाओ। और मेरी, तुम चरागाह में निकल जाओ। *[और फिर अपने चारों ओर देखता हुआ डरता-डरता आगे की ओर जाता है। उसकी पत्नी भी डरी हुई, चारों तरफ़ देखती है।]*

किसान : *[सूअर के आगे सानी पटकते हुए]* तुम मज़े में खाओ लीता। हेल हिटलर! भाड़ में जाये ऐसी सरकार जिसमें जानवर भूखे रहें।

चिंगारी से भड़केंगी ज्वालाएँ

(पेज 14 से आगे)

व्लादीमिर इल्यीच ने नाव को बहाव के साथ छोड़ दिया और उनकी आँखें पाख़ा के दूसरे किनारे पर घूमने लगीं।

पानी के साथ-साथ करवीर की घनी गुलाबी झाड़ियाँ थीं। उनके पीछे एक बड़े बेदमजनूं के पेड़ के नीचे एक खुली जगह थी, जिसमें बाबूने के फूल छिटके हुए थे। पेड़ की डालों की हरी लटों में सूरज की किरणें चमचमा रही थीं।

"चारों ओर कितना सुहावना है! ताज़ी हवा का महासागर है यहाँ, फिर भी इस अद्भुत जगह के रहने वाले पारे के धुएँ से मर रहे हैं और उनके बच्चे सूखे के शिकार होने के लिए ही पैदा होते हैं। हमारा अख़बार मज़दूरों को यह सिखायेगा कि अपनी क़िस्मत के मालिक आप कैसे बनें।"

"आप ठीक कहते हैं। अगर ऐसा अख़बार सचमुच में हो..."

"वह होगा, निश्चित रूप से होगा, प्रिय डॉक्टर साहब।"

घर लौटने पर व्लादीमिर इल्यीच संतोष के साथ अपने हाथों को आपस में रगड़ते हुए कमरों में चहलक़दमी करते रहे। फिर टहलना बन्द करके उन्होंने दमीत्री से कहा :

"तुम्हारे डॉक्टर बहुत ही दिलचस्प आदमी हैं। वह बहुत ही समझदार हैं। उन्हें चैन से मत बैठने देना – उनसे 'ईस्क्रा' के लिए लेख लिखवाओ, मार्क्स की कुछ किताबें उन्हें पढ़ने के लिए दो। वह बहुत ही बढ़िया आदमी हैं!"

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

कोविड 19 वैक्सीन : एक पड़ताल

– डॉक्टर्स फॉर सोसाइटी

बीता साल पूरी तरह से कोरोना वायरस के नाम रहा। पूरे साल कोरोना वायरस (SARS CoV 2) ने पूरे विश्व में क़हर बरपा कर रखा हुआ था। नये साल में हालाँकि इसके केसों में काफ़ी हद तक कमी आई है और अब अलग-अलग वैक्सीन भी आ चुकी हैं लेकिन फिर भी यह बीमारी पूरी तरह से कब तक क़ाबू में आयेगी कुछ कहा नहीं जा सकता।

इस विषय पर रोज़ नये शोध सामने आ रहे हैं और वैज्ञानिक इस वायरस और बीमारी को समझने की कोशिशों में लगे हुए हैं। इसके अलावा कोविड 19 के टीके बनाने के दावे भी किये जा रहे हैं और भारत में भी दो तरह के टीके आ चुके हैं। लाखों स्वास्थ्यकर्मियों व डॉक्टरों ने अथक मेहनत करके व अपनी जीवन की कुर्बानियाँ देकर बीमारी को काफ़ी हद तक क़ाबू करने में सफलता पायी है। इसके बावजूद इस वायरस ने अब तक यह दुनिया में काफ़ी क़हर ढा दिया है। हालाँकि ज़्यादातर लोग मौत से बच गये हैं। लेकिन जितनी बड़ी आबादी के इसकी चपेट में आयी है उससे मरनेवाले लोगों कि संख्या 21 लाख से ज़्यादा पहुँच गयी है। चीन में इसकी मृत्युदर 3-4 फ़ीसदी थी और हो सकता है कि अन्तिम आँकड़े आने पर पूरी दुनिया में यह दर एक फ़ीसदी से भी कम हो।17 नवम्बर 2019 को इसका पहला केस चीन में सामने आया था। उसके बाद से अब तक पूरी दुनिया में 1 करोड़ से ज़्यादा केस सामने आ चुके हैं, जिनमें से 21 लाख से ज़्यादा लोगों की मृत्यु हो चुकी है। मरने वालों में ज़्यादातर वे हैं जो या तो 60 साल से ज़्यादा आयु के थे या फिर जिनको कोई गम्भीर बीमारी जैसे डायबिटीज़, टीबी, हृदय रोग या श्वास रोग पहले से थे।

बहरहाल अभी इस विषय पर सबसे ज़्यादा चर्चा इसके टीके यानी वैक्सीन की है। तो हम भी अपनी चर्चा का विषय टीके को ही रखेंगे। मौजूदा समय में उपलब्ध वैक्सीन कैसी हैं इस पर चर्चा करने से पहले हम थोड़ी चर्चा इस बात पर करेंगे कि कोई वैक्सीन काम कैसे करती है और यह भी कि कोई वैक्सीन विकसित कैसे की जाती है?

आपने इम्युनिटी यानी हमारे शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता के बारे में तो सुना ही होगा। यह हमारे शरीर की रक्षा प्रणाली होती है जो हमें संक्रमण से बचाती है। इसके दो भाग होते हैं। पहली होती है इनेट इम्युनिटी यानी नैसर्गिक प्रतिरोधक क्षमता। यह जन्मजात होती है और हमारे शरीर की रक्षा की पहली पंक्ति का काम करती है। जब भी कोई बाहरी आक्रमण शरीर पर होता है तो उसका सबसे पहला सामना इसी से होता है। इसके बाद आती है "अक्वायर्ड" यानी अर्जित इम्युनिटी जिसे "सेल मिडीएटेड इम्युनिटी" भी कहते हैं। जैसा कि नाम से पता चलता है यह वह इम्युनिटी है जो हम अपनी ज़िन्दगी के दौरान अर्जित करते हैं। यह हमारे शरीर में मौजूद कुछ ख़ास सेल्स यानी कोशिकाओं से चालित होती है। ये कोशिकाएँ होती हैं श्वेत रक्त कोशिकाएँ यानी लिम्फोसाइट्स। ये दो तरह की होती हैं। T सेल्स और B सेल्स। T सेल्स हमारी छाती में मौजूद एक ग्रन्थि थाइमस में बनती हैं और B सेल्स हमारी बोन मेरो यानी अस्थि मज्जा में। इनमें से T सेल्स दो तरह की होती हैं। किलर यानी मारक T सेल्स और हेल्पर यानी मददगार T सेल्स। मददगार टी सेल्स या तो इम्यून रिस्पॉन्स को रेगुलेट करती हैं या फिर मेमोरी यानी यादगार टी सेल्स में विकसित हो जाती हैं। जैसा कि नाम से जाहिर है किलर T सेल्स आक्रामक कीटाणुओं को मारने का काम करती हैं और मेमोरी T सेल्स उन्हें याद रखने का। इसका मतलब यह हुआ कि एक बार कोई इन्फ़ेक्शन हुआ तो शरीर की किलर टी सेल्स उससे लड़कर उसे ख़त्म कर देती हैं और मेमोरी टी सेल उसके एण्टीजन को याद रख लेती हैं। यहाँ एक चीज़ और जाननी ज़रूरी है। जब कोई बैक्टीरिया या वायरस शरीर पर हमला करता है तो हमारी इम्युनिटी उसके किसी घटक की पहचान करती है जो उस पर मौजूद कोई प्रोटीन, लिपिड या कार्बोहायड्रेट हो सकता है जिसे एण्टीजन कहते हैं। हमारी B सेल्स इनके साथ प्रतिक्रिया करने के लिए ख़ास तरह के प्रोटीन का निर्माण करती हैं जिसे एण्टीबॉडी कहते हैं। किसी भी ख़ास एण्टीजन के ख़िलाफ़ एक ख़ास एण्टीबॉडी का ही निर्माण होता है।

इन सब बातों का वैक्सीन से क्या सम्बन्ध है? सम्बन्ध ये है कि जब कोई रोगाणु शरीर पर हमला करता है तो हमारी B सेल्स एण्टीबॉडी बनाती हैं जो इनका ख़ात्मा करना शुरू कर देती हैं। लेकिन इस रोगाणु के एंटीजन को पहचानने और उसके ख़िलाफ़ इम्यून रिस्पॉन्स देने के लिए शरीर को समय लगता है जोकि सामान्य बात है। समस्या तब आती है जब बीमारी बहुत घातक हो जैसे कि चेचक या फिर बच्चों में होने वाला खसरा जो मरीज़ को इतना समय ही नहीं देते कि इम्यून रिस्पॉन्स पैदा करके उन्हें ख़त्म कर दे। उससे पहले ही रोगी या तो अपंग हो जाता है या फिर उसकी मृत्यु हो जाती है।

तो अब वैक्सीन का क्या रोल है? वैक्सीन मरे हुए या कमज़ोर कर दिये गये एण्टीजन होते हैं। ये शरीर में बीमारी पैदा नहीं कर सकते। लेकिन हमारे शरीर की इम्युनिटी इनको पहचान कर एण्टीबॉडी जरूर बना लेती हैं। इसके साथ ही किलर T सेल्स और मेमोरी T सेल्स भी सक्रिय हो जाती हैं। इस कमज़ोर या मरे हुए एण्टीजन को शरीर की इम्युनिटी ख़त्म कर देती है और मेमोरी T सेल्स इनको याद रख लेती हैं। अब अगर यही रोगाणु भविष्य में कभी शरीर पर हमला करता है तो मेमोरी T सेल्स को इनकी याद रहती है। जैसे ही यह शरीर में पहुँचता है तो शरीर की इम्युनिटी इन्हें तुरन्त पहचान कर इसके ख़िलाफ़ एकदम से इम्यून रिस्पॉन्स पैदा कर देती है और कोई भी नुक़सान पहुँचाने से पहले इनको ख़त्म कर देता है।

वैक्सीन विकसित करने की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया होती है। अगर इस प्रक्रिया का अनुसरण न किया जाये तो वैक्सीन की गुणवत्ता से समझौता करना पड़ेगा जिसका फ़ायदा होने की बजाय नुक़सान होने की सम्भावना ज़्यादा होती वैक्सीन चिकित्सा विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य द्वारा आविष्कृत एक महान छलाँग है जिसने मनुष्य द्वारा प्रकृति पर उसकी विजययात्रा को नयी बुलन्दियों तक पहुँचाया है। बहुत से असाध्य रोगों को हमने वैक्सीन यानी टीकाकरण की मदद से साधा है। नियंत्रित किया है और कुछ रोगों को तो ख़त्म कर दिया है।

कोविड महामारी की शुरुआत में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने कहा है कि इसका टीका विकसित होने में लगभग 18 महीने लगेंगे। उस वक्त भी कुछ विशेषज्ञों की राय थी कि 18 महीने बहुत कम अवधि है। इतने में टीका तैयार होना मुश्किल है। लेकिन अब वैक्सीन एक साल के अन्दर ही बनकर बाज़ार में भी आ चुकी है तो ऐसे में इसकी गुणवत्ता व सुरक्षा पर सन्देह होना लाज़मी है।

यह सन्देह क्यों है, इसको समझने के लिए हमें नयी वैक्सीन बनाने की प्रक्रिया को समझना होगा। मुख्यतः पाँच प्रकार की वैक्सीन होती हैं। लाइव एटेनुएटेड, इनऐक्टिवेटेड, टॉक्सॉइड, सबयूनिट, कॉन्जुगेट। ये कौन-कौन सी होती हैं और ये एक दूसरे से कैसे भिन्न होती हैं इस पर किसी और पोस्ट में बात करेंगे। फ़िलहाल इतना जान लेते हैं। अब किसी भी नयी वैक्सीन के निर्माण का कार्य छह अलग-अलग स्टेजों में होता है –

1) शुरुआती खोजबीन की स्टेज
2) प्री-क्लिनिकल स्टेज
3) क्लिनिकल विकास
4) नियामक संस्थाओं द्वारा समीक्षा और मंज़ूरी
5) उत्पादन
6) गुणवत्ता नियंत्रण

इनमें से प्री क्लीनिकल स्टेज में हम वैक्सीन का ट्रायल जानवरों पर करते हैं। अगर यहाँ यह सफल रहती है तो फिर इसकी टेस्टिंग इन्सानों पर करते हैं। इन्सानों पर टेस्टिंग की इस स्टेज को हम कहते हैं क्लीनिकल स्टेज। यही स्टेज सबसे लम्बी अवधि की होती है। सामान्यतः यह लगभग 8-10 साल की अवधि की स्टेज होती है। इस स्टेज में 3 चरण होते हैं जिनसे गुज़रने के बाद यह प्रक्रिया पूरी होती है। एक एक चरण कुछ वर्षों का समय लेता है। पहला चरण होता है जब हम वैक्सीन का टेस्ट वालण्टियरों के एक बहुत छोटे से समूह पर करते हैं। यह देखने के लिए कि वैक्सीन कितनी सुरक्षित है। इसके नतीजे आने में समय लगता है क्योंकि हमें लम्बे समय में आने वाले साइड इफ़ेक्ट भी देखने पड़ते हैं। यह प्रक्रिया एक से ज़्यादा बार भी दोहरायी जाती है। इस चरण की सफलता के बाद अब हमारी वैक्सीन दूसरे चरण में प्रवेश करती है। अब हम एक ज़्यादा बड़े समूह पर इसका प्रयोग करते हैं जिसमें सैकड़ों वालण्टियर होते हैं। इस चरण में हम शरीर का वैक्सीन पर "इम्यून रिस्पॉन्स" यानी हमारी इम्युनिटी की प्रतिक्रिया देखते हैं। इस चरण में भी काफ़ी समय लगता है। इसके अलावा हमें यह चरण भी एक से ज़्यादा बार पूरा करना होता है। इस चरण में सफल होने पर अब तीसरा चरण आता है। इस चरण में हम वैक्सीन को हज़ारों वालण्टियरों के समूह पर टेस्ट करते हैं। इस बार हमारा मक़सद होता है कि हम यह जाँच लें कि वैक्सीन कितनी कारगर है और यह भी कि यह पूरी तरह से सुरक्षित है। इन तीनों चरणों के पूरा होने में 8-10 साल सामान्यतः लग ही जाते हैं।

लेकिन कोविड 19 की विभिन्न वैक्सीन बहुत जल्दबाज़ी में बाज़ार में उतार दी गयी हैं। इन सबने प्री क्लीनिकल स्टेज, यानी जिसमें जानवरों पर टेस्ट करते हैं, को पूरा ही छोड़ दिया। अब वैक्सीन तो आ गयी लेकिन इतनी जल्द वैक्सीन तैयार करने में वैक्सीन की गुणवत्ता ख़राब होने और सुरक्षा मानकों पर खरा न उतरने का ख़तरा बढ़ गया है। अब चूँकि वैक्सीन को तीसरे चरण के ट्रायल के बिना ही लोगों को लगाने के लिए उतारा गया है तो लोगों में डर स्वाभाविक है। इसके अलावा कुछ दिन पहले ही भारत में मौजूद दोनों टीकों को बनाने वाली कम्पनियों ने एक दूसरे की वैक्सीनों को ख़राब बताया था तो उससे भी लोगों के मन में पैदा हुआ सन्देह और गहरा गया है।

ऐसे में ये टीके कितने सफल होंगे यह भी भविष्य में देखनेवाली बात होगी। इसका अलावा हमें यह भी नहीं पता कि वैक्सीन बनने के बाद यह कितने समय तक सुरक्षा प्रदान करेगी। अब जबकि इस वायरस की नयी स्ट्रेन भी आ गयी हैं तो उनसे ये टीके कितनी सुरक्षा देंगे यह भी पक्के तौर पर नहीं कहा जा सकता। इसके साथ ही एक नयी ख़बर इस विषय में यह है कि नक़ली वैक्सीन बनाने का धन्धा भी शुरू हो गया है। कुछ समय पहले ही चीन में ऐसे ही एक गिरोह को गिरफ़्तार किया गया है जो कथित तौर पर नक़ली कोविड वैक्सीन बनाकर बेचने का काम कर रहे थे।

इन सब बातों के मद्देनज़र हमारे पास यह सन्देह करने के पर्याप्त कारण हैं कि इन तमाम कम्पनियों ने सबसे पहले वैक्सीन बाज़ार में उतार कर सबसे ज़्यादा मुनाफ़ा कमाने के चक्कर में वैक्सीन के निर्माण सम्बन्धी सही प्रक्रिया का पालन नहीं किया है और ऐसे में अगर वैक्सीन के दीर्घकालीन बुरे प्रभाव सामने आते हैं (पूरी दुनिया के विशेषज्ञों के अनुसार हालाँकि इसकी सम्भावना कम है, लेकिन फिर भी है) तो उसके लिए ज़िम्मेदार कौन होगा? जाहिर है, मुनाफ़े पर टिकी व्यवस्था में ज़िम्मेदारी सिर्फ़ मुनाफ़ा कमाने की होती है, जनता की सुरक्षा की नहीं। ग़रीब जनता तो सिर्फ़ इनके लिए नयी दवाओं के ट्रायल के लिए होती है।

कुल मिलाकर कोविड 19 महामारी के दौरान यही चीज पुख़्ता हुई है कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दर स्वास्थ्य ढाँचा किसी महामारी को न तो फैलने से रोक सकता है और न ही फैलने पर उसे क़ाबू करने के इन्तज़ाम सही ढंग से कर सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था आपदा से निपट नहीं सकती, बल्कि आपदा को अवसर बनाकर उससे सिर्फ़ मुनाफ़ा कमा सकती है। विज्ञान और तकनीक की तरक़्क़ी के बावजूद अगर कोई महामारी इतना क़हर बरपा कर जाती है तो ज़ाहिर सी बात है कि समस्या विज्ञान में नहीं बल्कि व्यवस्था में है और समस्या का हल व्यवस्था परिवर्तन यानी पूँजीवाद को ख़त्म करके समाजवाद की स्थापना करने में है।

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006